विवेक-ज्योति

वर्ष ४२ अंक १२ दिसम्बर २००४ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

दिसम्बर २००४

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४२
अंक १२

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें — 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें न भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से ही बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वैराग्य-शतकम्

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं शीत-मधुरं
क्षुधार्तः शाल्यन्नं कवलयति शाकादिकलितम् ।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरम्-आलिङ्गति वधूं
प्रतीकारं व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ।।१९।।

अर्थ – प्यास से गला सूख जाने पर व्यक्ति शीतल-मधुर जल पीता है, भूख से पीड़ित होने पर शाक, दही आदि से युक्त अन्न का भक्षण करता है, काम की अग्नि प्रबल होने पर दृढ़तापूर्वक पत्नी का आलिंगन करता है। विपरीत बुद्धि का अवलम्बन करके व्याधि के प्रतिकार को ही लोग सुख मान बैठते हैं।

तुङ्गं वेश्म सुताः सताम्-अभिमताः संख्यातिगाः सम्पदः
कल्याणी दयिता वयश्च नवमित्यज्ञानमूढो जनः ।
मत्वा विश्वम्-अनश्वरं निविशते संसार-कारागृहे
संदृश्य क्षणभंगुरं तद्-अखिलं धन्यस्तु संन्यस्यति ।।२०।।

अर्थ – अज्ञान से विमूढ़ मानव यह सोचकर इस संसार रूपी कारागार में निवास करता है कि मेरा मकान भव्य है, पुत्र सज्जनों द्वारा प्रशंसित हैं, सम्पदा असीम है, पत्नी सहायिका है, युवावस्था शेष है और जगत् चिरस्थायी है; परन्तु धन्य है वह व्यक्ति जो इन सबको क्षणभंगुर समझकर त्याग कर देता है।

– भर्तृहरि

मातृ-वन्दना

– १ –

(दरबारी-कान्हरा-झापताल)

(एक बँगला भजन - 'सबारी मा हये आजी ...' पर आधारित)

कौन तुम आयी धरा पर, हो सकल जीवों की जननी ।
आँसुओं की धार में निज, बह रही अविराम तरणी ।।

जाति-भाषा देश का है, भेद ना तव पद-कमल में,
शुचि-अशुचि सब एक हैं ज्यों, जाह्नवी के पूत जल में,
सर्वदा आशीष देकर, सकल जन के ताप हरणी ।।

मातृ-सम्बोधन सिखाने, आइ जग में 'सार-दा' हो,
जो भी माँगे पुत्र तुमसे, भोग-दा हो, मोक्ष-दा हो,
स्नेह की सरिता बहाकर, शुष्क जीवन-प्राण भरणी ।।

रात-दिन तुझको पुकारें, हम तुम्हारे तनय सारे,
कर दया अब दूर कर दो, दोष-पीड़ा सब हमारे,
सत्ययुग का आगमन हो, शान्तिमय फिर होवे धरणी ।।

– २ –

(बहार–कहरवा)

(एक बँगला भजन पर आधारित)

आयी हो माँ फिर एक बार ।
करुणा करके सत्वर हरने, सन्तानों के सन्ताप–भार ।।

युग-युग में तुम धरती पर आ, कितने ही दुःख सहती हो माँ,
शीतल करने को दग्ध हृदय, पोंछने सभी के अश्रु-धार ।।

पहले तुमने अवतार लिया, सीता-राधा औ विष्णुप्रिया,
सारदा रूप में आई अब, वितरण करने निज सुधासार ।।

तुम निखिल विश्व-मातृत्व-रूप,
तव स्नेह सहज निश्छल अनूप
जो दृष्टि तुम्हारी हो 'विदेह',
हम तर जाएँ भव-दुर्निवार ।।

– *विदेह*

ध्यान का विज्ञान

स्वामी विवेकानन्द

मान लो, मन किसी एक विषय को सोचने का प्रयत्न कर रहा है, किसी एक विशेष स्थान में – जैसे, मस्तक के ऊपर अथवा हृदय आदि में – अपने को पकड़ रखने का प्रयत्न कर रहा है। यदि मन शरीर के केवल उस अंश के द्वारा संवेदनाओं को ग्रहण करने में समर्थ होता है, शरीर के दूसरे भागों के द्वारा नहीं, तो उसका नाम धारणा है; और जब वह अपने को कुछ समय तक उसी अवस्था में रखने में समर्थ होता है, तो उसका नाम है ध्यान।

ध्यान उच्चतम अवस्था है। जब तक (चित्त में) संशय रहता है, ऊँची अवस्था नहीं होती। समाधि उच्चावस्था है। वह द्रष्टा और साक्षी के रूप में वस्तुओं को देखता है, परन्तु उनके साथ तदाकार नहीं होता। जब तक मुझे दुख होता है, तब तक शरीर में मेरी तादात्म्य वृत्ति है। जब तक मुझे मौज या खुशी का अनुभव होता है, तब तक शरीर में मेरी तादात्म्य वृत्ति है। परन्तु जो उच्च अवस्था है, उसमें सुख-दुख, दोनों में एक सा सुख अथवा आनन्द प्रतीत होगा। ... प्रत्येक प्रकार का ध्यान प्रत्यक्ष समाधि है। चित्त के पूर्ण एकाग्र हो जाने पर जीवात्मा स्थूल शरीर के बन्धन से वस्तुत: मुक्त हो जाती है और उसे अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

किसी विषय पर मन को एकाग्र करने का ही नाम ध्यान है। किसी एक विषय पर भी मन की एकाग्रता हो जाने पर वह एकाग्रता जिस विषय पर चाहो उस पर लगा सकते हो।

पहले किसी एक विषय के सहारे ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। किसी समय मैं एक छोटे से काले बिन्दु पर मन को एकाग्र किया करता था। परन्तु कुछ दिन के अभ्यास के बाद मुझे वह बिन्दु दिखना बन्द हो गया था। वह मेरे सामने है या नहीं, यह भी ध्यान नहीं रहता था। शान्त समुद्र के समान मन का पूर्ण निरोध हो जाता था। ऐसी अवस्था में मुझे अतीन्द्रिय सत्य की कुछ-कुछ झलकियाँ दिखायी देती थी। इसलिए मेरा विचार है कि **किसी सामान्य बाहरी विषय का भी आश्रय लेकर ध्यान करने का अभ्यास करने से मन की एकाग्रता होती है**। जिसमें जिसका मन लगता है, उसी पर ध्यान का अभ्यास करने से मन शीघ्र एकाग्र हो जाता है। इसीलिए हमारे देश में इतने देवी-देवताओं की मूर्तियों के पूजने की व्यवस्था है। देवी-देवताओं की पूजा से ही शिल्प-कला की उन्नति हुई है। परन्तु इस बात को अभी छोड़ दो। अब बात यह है कि ध्यान का बाहरी अवलम्बन सब का एक नहीं हो सकता। जो जिस विषय के आश्रय से ध्यान-सिद्ध हो गया है, वह उसी विषय का वर्णन और प्रचार कर गया है। कालान्तर में इस बात के भूल जाने पर कि वे केवल मन को स्थिर करने के लिए हैं, लोगों ने इस बाहरी अवलम्बन को ही श्रेष्ठ समझ लिया। उपाय में ही लोग लगे रह गये; उद्देश्य पर ध्यान कम हो गया। मन को वृत्तिहीन करना ही उद्देश्य है; परन्तु यह उसे किसी विषय में तन्मय हुए बिना असम्भव है।

भीतर नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा-रूपी सिंह विद्यमान है; ध्यान-धारणा करके उसका दर्शन पाते ही माया की दुनिया उड़ जाती है।

तेल की धार की तरह मन को एक ओर लगाये रखना चाहिए। सामान्य व्यक्ति का मन विभिन्न विषयों द्वारा विक्षिप्त हो रहा है। ध्यान के समय भी पहले-पहल मन विक्षिप्त होता है। मन में जो चाहे भाव उठें, उन्हें उस समय स्थिर बैठकर देखना चाहिए। देखते देखते मन स्थिर हो जाता है और फिर मन में चिन्तन की तरंगें नहीं रहतीं। वह तरंग-समूह ही है, मन की संकल्प-वृत्ति। इससे पूर्व जिन विषयों का तीव्र भाव से चिन्तन किया है, उनका एक मानसिक प्रवाह रहता है, इसीलिए वे विषय ध्यान के समय मन में उठते हैं। साधक का मन धीरे-धीरे स्थिरता की ओर जा रहा है, उनका उठना या ध्यान के समय स्मरण होना ही उसका प्रमाण है कि मन कभी-कभी किसी भाव को लेकर एकवृत्तिस्थ हो जाता है – उसी का नाम है सविकल्प ध्यान। और मन जिस समय सभी वृत्तियों से शून्य होकर निराधार एक अखण्ड बोध-रूपी प्रत्यक् चैतन्य में लीन हो जाता है, उसका नाम है वृत्तिशून्य निर्विकल्प समाधि।

आध्यात्मिक जीवन का सबसे बड़ा सहायक 'ध्यान' है। ध्यान के द्वारा हम अपनी भौतिक भावनाओं से अपने आपको स्वतंत्र कर लेते हैं और अपने ईश्वरीय स्वरूप का अनुभव करने लगते हैं। ध्यान करते समय हमें कोई बाहरी साधनों पर अवलम्बित नहीं रहना पड़ता।

ध्यान ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। मन की यह ध्यानावस्था आध्यात्मिक जीवन की सर्वाधिक समीपता है। आत्मा का सारे

जड़ पदार्थों से मुक्त होकर स्वयं के बारे में चिन्तन – आत्मा का यह अद्‌भुत संस्पर्श – यही हमारे दैनिक जीवन में एकमात्र ऐसा क्षण है, जब हम जरा भी पार्थिव नहीं रह जाते।

तू सर्वव्यापी आत्मा है – इसी बात का मनन और ध्यान किया कर। मैं देह नहीं – मन नहीं – बुद्धि नहीं – स्थूल नहीं – सूक्ष्म नहीं – इस प्रकार 'नेति' 'नेति' करके प्रत्यक् चैतन्य रूपी अपने स्वरूप में मन को डुबो दे। इस प्रकार मन को बार-बार डुबो-डुबोकर मार डाल। तभी ज्ञानस्वरूप का बोध या स्व-स्वरूप में स्थिति होगी। उस समय ध्याता-ध्येय-ध्यान एक बन जायेंगे – ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान एक हो जायेंगे। सभी अध्यासों की निवृत्ति हो जायेगी। इसी को शास्त्र में 'त्रिपुटि-भेद' कहा है। इस स्थिति में जानने, न जानने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। आत्मा ही जब एकमात्र विज्ञाता है, तब उसे फिर जानेगा कैसे? आत्मा ही ज्ञान – आत्मा ही चैतन्य – आत्मा ही सच्चिदानन्द है।

इस समाधि में हर मनुष्य का, यही नहीं, हर प्राणी का अधिकार है। सबसे निम्नतर प्राणी से लेकर अति उन्नत देवता तक सभी, कभी-न-कभी, इस अवस्था को अवश्य प्राप्त करेंगे; और जब किसी को यह अवस्था प्राप्त होगी, केवल तभी हम कहेंगे कि उसने यथार्थ धर्म की प्राप्ति की है। इससे पहले हम उसकी ओर जाने के लिए केवल संघर्ष करते हैं। जो धर्म नहीं मानता, उसमें और हममें अभी कोई विशेष अन्तर नहीं, क्योंकि हमें आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ है। इस आत्म-साक्षात्कार तक हमें पहुँचाने के सिवा एकाग्रता का और क्या शुभ उद्देश्य है? इस समाधि को प्राप्त करने के प्रत्येक अंग पर गम्भीर रूप से विचार किया गया है, उसे विशेष रूप से नियमित, श्रेणीबद्ध और वैज्ञानिक प्रणाली में सम्बद्ध किया गया है। यदि साधना ठीक-ठीक हो और पूर्ण निष्ठा के साथ की जाय, तो वह अवश्य हमें अभीष्ट लक्ष्य पर पहुँचा देगी। और तब सारे दुःख-कष्टों का अन्त हो जायेगा, कर्म का बीज दग्ध हो जायगा और आत्मा चिरकाल के लिए मुक्त हो जायेगी। ❑❑❑

श्री सारदा वन्दना

डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्

दोहा

माता श्यामासुन्दरी, रामचन्द्र पितु गेह।
जगदम्बा भवतारिणी, उतरीं ले नव देह ॥१॥
पौष कृष्ण शुभ सप्तमी, दिन पुनीत गुरुवार।
हुआ सारदा का परम करुणामय अवतार ॥२॥

छन्द

जयरामवाटी पुण्य-घाटी, सहज सुकृति सहोदरा
चिर मनोभावन, भूमि पावन, शस्य श्यामल उर्वरा।
मंगल-विधात्री शान्ति-दात्री लोक-शोक-तिमिर-हरा
अवतरीं माता दिव्य-गाता विमल-बुद्धि ऋतम्भरा ॥

दोहा

गूँज उठी शत शंखध्वनि, गूँजे सुललित गान।
नत वन्दन करने लगे, सुर-मुनि वेद-पुराण ॥३॥

चौपाई

जय जय माँ सारदा सुनीता।
विश्व-वन्दिता परम पुनीता ॥
जय श्यामासुन्दरी किशोरी।
रामचन्द्र-दुहिता अति भोरी ॥
जय जय भुवन विमोहिनि माता।
जय शुचि रुचि मुख मंगल दाता ॥
जय करुणा-वरुणा कल्याणी।
जय संतति-वत्सला अमानी ॥
तुम ही उमा जानकी राधा।
त्याग याग तप प्रीति अगाधा ॥
तुम ही ज्ञान-कर्म की भाषा।
अचल भक्ति की तुम परिभाषा ॥
पावन तन-मन जीवन गंगा।
निर्मल छवि रवि-रश्मि अभंगा ॥
रामकृष्ण गत प्राण तुम्हारे।
रोम-रोम तन्नाम उचारे ॥

सोरठा

हरने को भू-भार, तुम आयी संसार में।
लीला परम अपार, कौन तुम्हारी गा सके ॥४॥

छन्द

अक्षय सुहागिनि ! चिर विरागिनि ! हे अमर वरदायिनी।
माँ सारदेश्वरि ! हे शुभेश्वरि ! भक्ति दो अनपायिनी ॥
कर दो विमल मन अमल जीवन देवि यह वर दो मुझे।
अपनी शरण में अंत क्षण में अभय कर धर लो मुझे ॥

दोहा

तारक शरत् नरेन्द्र शशि, लाटू हरि राखाल।
स्नेह-सुधा तव पान कर, सब हो गए निहाल ॥५॥
माँ, दो निज पद पद्म में, नित अखण्ड विश्वास।
कटें बंध-भव उर-तिमिर, मिटें ताप-त्रय-त्रास ॥६॥

❑❑❑

धनुष-यज्ञ का तात्पर्य (७/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा जनवरी २००२ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के समय पण्डितजी ने 'धनुष-यज्ञ' पर ७ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उनके ७वें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

जीवन बाहर और भीतर, दोनों ओर से धन्य होना चाहिए, तभी वह पूर्ण धन्य होगा। वस्तुत: जब तक भीतर समाधान नहीं होगा तब तक पूर्ण धन्यता का अनुभव नहीं होगा। जीवन बाहर और भीतर, दोनों से धन्य होना चाहिए। हमारे चित्त में, अन्त:करण में संस्कार अलग, बुद्धि में अलग, मन में अलग और अहंकार का रूप बिलकुल भिन्न। हमारे अन्त:करण में अन्तर्द्वन्द्व और विरोधाभास दिखाई देता है। हम मन से कुछ चाहते हैं, किसी वस्तु की ओर आकर्षण होता है और बुद्धि दूसरी दिशा में ले जाना चाहती है। भीतर ही द्वन्द बना हुआ है। जब तक यह द्वन्द समाप्त नहीं हो जाता, तब तक बाहर की सफलता अधूरी रहती है।

अब यह कृतकृत्यता नाम की जो पूरी यात्रा है, उसमें अन्त:करण के परिशोधन की प्रक्रिया है और उसमें गुरु की, विश्वामित्र की विशेष भूमिका है और उसमें सर्वप्रथम ताड़का का वध हुआ। यह ताड़का का वध ही साधना का श्रीगणेश है। उसे चाहे तो द्वैत कह लीजिए, या फिर गोस्वामीजी ने एक सूत्र और दिया कि **ताड़का हमारे जीवन की दुराशा है।**

सहित दोष दुख दास दुरासा। १/२४/५

सारे झगड़े, चाहे पति-पत्नी में हो, या परिवार में हो, या गुरु-शिष्य में हो, या समाज में हो, उसका एकमात्र कारण है – 'आशाएँ'। हम और आप दूसरों से आशा करते हैं। और आप अनुभव करते होंगे कि यह आशा चक्रवृद्धि ब्याज की भाँति बढ़ती है। हम प्राय: यही सोचते हैं कि मैंने उसके लिए इतना किया, पर उसने तो मेरे लिए कुछ भी नहीं किया। आशादेवी की विलक्षणता ही यही है। गोस्वामीजी ने कहा – संसार में जितने देवी-देवता हैं, उनका पूजन कीजिए, तो सुख मिलता है, पर यह आशादेवी तो बड़ी अद्भुत देवी हैं – जो आशादेवी की पूजा करते हैं, उन्हें वह वरदान देती हैं – दुख का, जाओ दुखी रहो। और जो उनकी पूजा बन्द कर देते हैं, वे बड़े आनन्द में रहते हैं –

तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम।
सेएँ सोक समर्पई बिमुख भएँ अभिराम।। (दोहा. २५८)

अब जीवन में आशा न रखें, तो क्या निराशावादी बन जायें? कुछ लोग जब देखो निराशा की ही बातें करते हैं, सदा अवसन्न बने रहते हैं। उन्हें हर वस्तु में कमी लगती है। तो क्या ऐसा होना ठीक है? नहीं, गोस्वामीजी बड़ा सुन्दर संकेत देते हैं। ताड़का ही मानो दुराशा है और भगवान एक ही बाण से उसका वध कर देते हैं, पर उसके बाद ताड़का के भीतर से एक तेज निकलकर श्रीराम में समा जाता है। बस, इसी का अभिप्राय समझ लेना है। यहीं साधना का श्रीगणेश होता है। **हमारे जीवन में दूसरों से जो आशा है, यही दुराशा है, सबसे पहले यही समाप्त हो।** मन से ज्योंही दुराशा मिट जायेगी, त्योंही सारे झगड़े और सारा दुख समाप्त हो जायेगा। इसीलिए इस यात्रा में सर्वप्रथम ताड़का-वध है। गोस्वामीजी ने ताड़का को मन की दुराशा कहा और जब वह भगवान राम के सामने आई, तो क्रोध के रूप में आई –

सुनि ताड़का क्रोध करि धाई।। १/२०९/५

जब आशा पूरी नहीं होती, जब उसमें कोई बाधा आती है, तब मन की वही वृत्ति क्रोध के रूप में प्रगट हो जाती है। हम जीवन में आशा करते हैं और उसके पूरी न होने पर क्रोध करते हैं, रोष प्रगट करते हैं। ऐसी स्थिति में ताड़का को द्वैत बुद्धि कह लीजिए, क्योंकि –

क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु ... । ७/१११

और द्वैत-बुद्धि को समाप्त करने के लिए केवल एक ही बाण का प्रयोग हुआ –

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा।। १/२०९/६

अत: संसार से आशा छोड़कर निराशावादी बनने की जरूरत नहीं है। ताड़का के भीतर से एक तेज निकल कर भगवान में समा जाता है – मानो आशा संसार से मुड़कर भगवान से जुड़ जाती है। गोस्वामीजी कहते हैं –

एक राम घन स्याम हित
चातक तुलसीदास। (दोहावली, २७७)

भगवान ही एकमात्र ऐसे हैं, जिनसे हम आशा कर सकते हैं। पूरी करें तो ठीक, न करें तो ठीक, यहाँ दोनों हाथ में लड्डू है। **यदि भगवान ने हमारी इच्छा पूरी कर दी, तो भक्त कहता है – भगवान की कृपा! और इच्छा पूरी नहीं हुई, तो कहता है – भगवान की इच्छा!** उनकी कृपा और उनकी

इच्छा, बस इसी दोनों किनारों के बीच भक्त के जीवन की धारा है। हमारे जीवन में यदि ये दो सूत्र आ जायँ, तो हमारे अन्त:करण से दुराशा का विनाश हो जायेगा। अनुकूलता हो तो भगवान की कृपा है और प्रतिकूलता हो, तो कहे – महाराज, मेरी इच्छा तो आपने बहुत पूरी की, अब अपनी इच्छा पूरी कीजिए। बस, दुराशा का विनाश हो गया।

इस प्रकार पहले अन्त:करण या **मन की दुराशा का नाश करने के बाद बुद्धि का शोधन। ताड़का-वध के उपरान्त अहल्या-उद्धार।** यह अहल्या वस्तुत: बुद्धि है। गोस्वामीजी विनय-पत्रिका और 'मानस' में भी सूत्र देते हुए कहते हैं – प्रभो, सुनते हैं कि आपने त्रेतायुग में पत्थर की नारीमूर्ति का स्पर्श करके उसे चैतन्य कर दिया था, परन्तु मुझे तो विश्वास नहीं होता। – अच्छा तो तुम्हें विश्वास कैसे होगा? बोले – आप अभी हमारे सामने फिर से पत्थर की मूर्ति को चैतन्य करके दिखाइए, तब मानेंगे कि हाँ, यह बात बिलकुल ठीक है। – लेकिन भाई, वह तो त्रेतायुग की बात है, आज हम वह चमत्कार कैसे दिखायें? तो गोस्वामीजी कहते हैं – महाराज, मेरे मन में भी एक अहल्या है और वह भी पत्थर हो गई है। – वह अहल्या कौन है? – मेरी बुद्धि –

सहस सिलातें अति जड़मति भई है। (वि.प.१८१)

जब आप किसी की बुद्धि की निन्दा करते हैं तो कहते हैं, इसकी बुद्धि जड़ हो गई है, इसकी बुद्धि पर पत्थर पड़ गया है। यह प्रसंग बड़ा विलक्षण है। बुद्धि-रूपी अहल्या भ्रमित होती है और इन्द्र को गौतम मान लेती है और इससे उसके जीवन में त्रुटि आती है, यही बुद्धि का स्वभाव है। बुद्धि सर्वश्रेष्ठ है, लेकिन वह भी धोखा खा जाती है। यदि कोई मान ले कि बुद्धिमान व्यक्ति धोखा नहीं खायेगा या हमारी बुद्धि धोखा नहीं खायेगी, तो यह ठीक नहीं है। अहल्या जैसी बुद्धि भी, जो पवित्र है, गौतम की पत्नी है, पतिव्रता है, वह भी भ्रमित हो जाती है। इन्द्र यदि भोग हैं, स्वर्ग का राज्य हैं, तो गौतम तपस्वी और महात्मा हैं। परन्तु इन दोनों के बीच यह जो बुद्धि है, उसमें जब विपर्यय आता है, तब वह जड़ हो जाती है, पत्थर बन जाती है।

अन्त:करण में ताड़का मर गई, तो मानो मन का दोष मिटा और वैसे ही गोस्वामीजी कहते हैं – प्रभो, अहल्या ने तो बस एक बार भूल की थी, पर वैसी भूल तो हम जीवन में नित्य ही करते रहते हैं, स्वयं को धोखा देते रहते हैं, अपनी तर्क और बुद्धि से अपनी दुर्बलता का समर्थन करते रहते हैं। प्रभो, आप कृपया हमारी इस बुद्धि-रूपी अहल्या का उद्धार कीजिए। वहाँ भी विश्वामित्रजी भगवान राम से कहते हैं –

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर।। १/२१०

मनुष्य की बुद्धि का बड़ा महत्त्व है, पर जब तक आप केवल बुद्धि पर भरोसा करेंगे, भगवान की कृपा का आश्रय नहीं लेंगे, तब तक यह बुद्धि धोखा दिए या धोखा खाये बिना रह ही नहीं सकती। बुद्धि की यही समस्या है। भगवान ने अहल्या का उद्धार किया अर्थात् उन्होंने बुद्धि की जड़ता को दूर कर दिया, बुद्धि को चैतन्य कर दिया। बुद्धि का उपयोग कीजिए, पर विश्वास यही रखिए कि भगवत्-कृपा ही हमें भोग-लालसा से बचा सकती है। भोग-लालसा अन्त:करण में छिपी होने के कारण हमें दिखाई नहीं देती और **हम निरन्तर इस भ्रम में रहते हैं कि हमारी बुद्धि चैतन्य है।**

देखने में आता हैं कि जिसको हम बहुत बुरा व्यक्ति समझते हैं, वह कभी बहुत अच्छा कार्य भी करता या करने लग जाता है और ऐसा भी दिखाई देता है कि जिसे हम बहुत अच्छा व्यक्ति समझते हैं, वह भी कभी-कभी बुरा काम कर बैठता है। यह परिवर्तन कैसे होता है? इसका उत्तर चित्त में छिपा हुआ है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार को मिलाकर अन्त:करण बनता है और इनमें सबसे अनोखा है चित्त।

अभी आप कथा सुनकर जा रहे हैं। अब इस समय आप जो कार्य करेंगे, सम्भवत: कथा के प्रभाव से करेंगे, लेकिन पूर्व-पूर्व जन्मों में आपने न जाने क्या-क्या सुना होगा, न जाने कैसे-कैसे लोगों के साथ बैठे होंगे, उनसे अर्जित संस्कार चित्त में बैठ जाते हैं। **अन्त:करण में जहाँ संस्कार संचित होते हैं, उसी का नाम चित्त है।** इसीलिए लोग कहते हैं – क्या करें, आदत नहीं छूटती, मोह नहीं छूटता। इसका कारण यह है कि अभी आप जो कार्य कर रहे हैं, उसका संस्कार तो भविष्य में प्रगट होगा, पर जो पहले के संस्कार हैं, वे अभी दिखाई दे रहे हैं। गोस्वामीजी कहते हैं –

जनम जनम अभ्यास निरत
चित अधिक अधिक लपटाई।। विनय-प. ८२

चित्त में न जाने कितने जन्मों के संस्कार संग्रहित हैं और उन संस्कारों में से कौन-सा संस्कार किस समय अंकुरित हो जायेगा, यह जानना बड़ा कठिन है। इसीलिए किसी अच्छे व्यक्ति के जीवन में भी पूर्वजन्मों के किसी बुरे कर्म के संचित संस्कार फूट पड़ते हैं। और जिन्हें हम बुरे व्यक्ति के रूप में देखते हैं, उनके जीवन में पूर्व के कुछ अच्छे संस्कार भी प्रगट होते हैं। यह जो चित्त है और उसमें जो संचित संस्कार हैं, उन्हें समझ पाना बड़ा कठिन है। रावण क्यों नहीं मरता? चित्त का यही रहस्य है। रावण मोह है। सिर और भुजाएँ काटने पर भी वह मरता नहीं। बाद में पता चला कि उसकी नाभि में अमृतकुण्ड है। अर्थात् उसकी नाभि में जो संग्रह है, अन्तश्चित्त में संस्कारों का जो संग्रह है, जब तक वह नहीं मिटेगा, तब तक बुराई का भी विनाश नहीं होगा।

ऐसी स्थिति में भक्त भगवान की इस लीला को प्रस्तुत करते हैं। वे बड़ी मधुर रसिक भावना में उसे कहते हैं। जैसे वे कहते हैं कि भगवान ने अहल्या का उद्धार किया, उसके बाद जनकपुर गये और वहाँ जब वे लता-कुंज से प्रगट हुए, तो उनके होठों पर हँसी थी। पूछा गया – हँसी किस लिए है? बोले – भगवान को जब कोई वस्तु पसन्द आती है, हम लोगों को भी जब कोई वस्तु पसन्द आती है, तो चाहते हैं कि उसे खरीद लें, भगवान को जब किसी भक्त का मन बहुत पसन्द आता है, तो उसे वे मोल लेना चाहते हैं। मोल लेने की उनकी पद्धति क्या है? कविता की भाषा में सखी बोली – अपनी हँसी और मुस्कुराहट के द्वारा वे मन को मोल लेते हैं – **हास बिलास लेत मन मोले**.।

इसका अभिप्राय है कि भक्तों ने भगवान का जो शृंगार किया, उसमें भी बड़ी अनोखी बात कही गई है। भगवान जब हँसते हैं, तो मन के लिए और हाथ में जो मुन्दरी पहनते हैं, यह क्या है? चित्त के संस्कारों को मिटाना बड़ा कठिन है, पर भक्त बड़ी मीठी बात कहते हैं – जिन संस्कारों को मिटाना बड़ा कठिन है, वे दूर कैसे हुए? बोले – चोरी चले गये। हमारे लिए तो उन्हें दूर करना कठिन था, पर चोर के लिए सरल था। वह चुरा ले गया और हमें पता भी नहीं चल सका कि हमारे चित्त के संस्कार कब चले गये। कौन है यह चोर? गोस्वामीजी कहते हैं – यह मुद्रिका ही चोर है – **कर मुद्रिका चोरि चित लई**।

हँसी के द्वारा वे मन को खरीद लेते हैं और मुद्रिका के द्वारा चित्त को चुरा लेते हैं। सूत्र रूप में इसे ध्यान में रखें। धनुष के द्वारा अहंकार का नाश होता है। यह अन्तिम वस्तु है। इसका अभिप्राय यही है कि महाराज जनक कितने भी बड़े विरागी क्यों न हों, लेकिन चित्त में जो संस्कार हैं, उसी को तो भगवान प्रगट करना चाहते थे। जनकजी को यह लगने लगा था कि मैं तो बड़ा सहज विरागी हूँ, पर भगवान बताना चाहते थे कि विरागी तो आप हैं, पर क्या आपके चित्त में राग नहीं है? आपका विराग तो दिखाई दे रहा है, पर चित्त में छिपा हुआ आपका राग दिखाई नहीं दे रहा है, इसलिए लोग आपको विरागी कहते हैं और आप भी स्वयं को विरागी समझ बैठे हैं। मानो भगवान ने अपनी इस लीला में अपनी मुस्कुराहट के द्वारा और अपने चरण-स्पर्श द्वारा इसी बात को प्रगट कर दिया। विश्वामित्रजी बोले – अहल्या का उद्धार करो और इसका उद्धार चरण-कमल से होगा –

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर।। १/२१०

इसलिए कि चरण-कमल ही भक्ति का केन्द्र है। संकेत यह है कि **भक्ति के बिना बुद्धि की जड़ता नहीं मिट सकती।** और इसके बाद होनेवाली धनुर्भंग की लीला बड़े महत्त्व का संकेत-सूत्र है। श्रेष्ठ लोग भले ही विचार के द्वारा, ग्रन्थ के द्वारा या अभ्यास के द्वारा चित्त में संचित संस्कारो को दबाकर रखें, पर समय आने पर वे उभरे बिना नहीं रहेगे। और यही खेल हमारे आपके सबके जीवन में है। इसलिए गोस्वामीजी ने जब यह कहा कि भरतजी चित्रकूट से आकर अयोध्या में तपस्या का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस पर किसी ने कहा – तपस्या तो साधक लोग करते हैं, भरतजी ने तो भगवान को पा लिया है, फिर उन्हें तपस्या की क्या आवश्यकता है? तो इस पर गोस्वामीजी ने बड़ी मधुर बात लिखी है –

भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं।। २/३२६/२

आप सराफ के पास जाइए, तो केवल रूप-रंग देखकर ही वह सोने का दाम नहीं चुका देगा। वह सोने को कसौटी पर कसता है। भक्तों की वह भावना है कि इसी प्रकार से हम भी सोने को कसौटी पर कसें।

भगवान राम का रंग साँवला क्यों है और लक्ष्मणजी का रंग सुनहला क्यों है? भक्त तो हर वस्तु का जो अर्थ लेता है। कथा अर्थात् अर्थ लेना। पर ऐसा अर्थ न हो कि वह अनर्थ बन जाय और मनुष्य को गलत दिशा में ले जाय। इसलिए गोस्वामीजी ने कहा – सराफ लोग सोने को जिस कसौटी पर कसते हैं उसका रंग काला होता है। और हमारे भगवान का यह जो कृष्णवर्ण है, वह चित्त-रूपी सोने की परख के लिए है। विनय पत्रिका (१०५) में वे कहते हैं –

स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी
चित कंचनहिं कसैहौं।।

भगवान का यह श्याम-वर्ण चित्त-रूपी कंचन को परखने के लिए कसौटी है। और लक्ष्मणजी का रंग सुनहला क्यों है? जब आप सोना लेकर सराफ के यहाँ जाएँगे, तो देखेंगे कि वह उसे अपने उस काले रंग की कसौटी पर तो कसेगा ही,. पर उसकी शुद्धता पर उसे विश्वास तब होता है, जब वह अपने परखे हुए शुद्ध सोने को निकाल कर उसे भी पत्थर पर घिसता है और दोनों को मिलाकर देखता है कि दोनों का रंग एक है या नहीं। जब दोनों का रंग मिल जाता है, तभी वह आपके सोने को शुद्ध मानता है। इसी प्रकार जब कोई अपने चित्त को लेकर भगवान के पास जाता है, तो वे उसे परख कर देखते हैं और जब वह लक्ष्मण-जैसे खरे सोने से मिल जाता है, तभी उसे शुद्ध सोने के रूप में स्वीकार करते हैं।

यहाँ पर वही बात है – लक्ष्मणजी मूर्तिमान वैराग्य हैं और जनकजी परम विरागी। पर जब कसौटी पर कसे गये, तो दोनों का रंग एक जैसा दिखा या नहीं? तो वहाँ पर वर्णन आता है – जनकजी रोने लगे कि मेरी कन्या का विवाह नहीं हो सकेगा। पर लक्ष्मणजी? वे तो धनुष को तोड़ने की

क्षमता रखते हुए भी नहीं तोड़ते । उनमें आकांक्षा ही नहीं है । असली विरागी तो लक्ष्मणजी हैं । यहाँ जो संकेत है, वह बहुत सुन्दर है – **भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं** ।

सराफ तो सोने को एक बार परखता है, लेकिन साधक को अपने अन्त:करण को एक बार परखकर उसे ठीक नहीं मान लेना चाहिए । उसको तो बार-बार कसते रहना चाहिए । सोना भले ही रंग न बदले, पर अन्त:करण तो निरन्तर रंग बदलता रहता है, इसीलिए साधक को निरन्तर सजग रहना चाहिए कि कहीं उसमें बदलाव तो नहीं आ रहा है ।

गोस्वामीजी जब वृद्ध हुए तो उन्हें कम सुनाई देने लगा और कम दिखाई देने लगा । उनकी बड़ी लम्बी आयु थी और वृद्धावस्था में तो रोग लगे ही रहते हैं । शिष्य चाहते थे कि अधिक-से-अधिक उनका सान्निध्य मिले । वे गुरुजी से बोले – "आप औषधि ले लें, स्वस्थ हो जायँ । यदि आप स्वस्थ रहेंगे, तो हम लोगों को बड़ा लाभ होगा ।" तब गोस्वामीजी ने एक बड़ी मधुर बात कही । वे बोले – अच्छा, तुम लोगों का इतना आग्रह है, तो वैद्य को बुलाओ, पर उस वैद्य को यह देखने की जरूरत नहीं कि कान से कम सुनाई देता है या आँख से कम दिखाई देता है अथवा शरीर में शक्ति कम हो गई है । शिष्यों ने कहा – महाराज, वैद्य यदि यह नहीं देखेगा, तो क्या देखेगा? तब उन्होंने कहा – वैद्यजी आकर देखें कि कहीं भगवान से प्रेम तो कम नहीं हो रहा है –

श्रवन घटहुँ पुनि दृग घटहु घटउ सकल बल देह ।
इते घटें घटिहै कहा जों न घटै हरि नेह ।। दोहा. ५६३

और यदि प्रेम में कमी दिखाई दे तो ऐसी दवा दें कि जिससे प्रेम और बढ़े । इसका अभिप्राय यह है कि साधक को निरन्तर सजग रहना है । और भरतजी निरन्तर सजग हैं ।

अब वहाँ पर भी वही संकेत है । जनकजी ने यह नहीं कहा कि श्रीराम ने मुझे कृतकृत्य कर दिया । उन्होंने कहा – दोनों भाइयों ने मुझे कृतकृत्य कर दिया –

मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाईं । १/२८६/६

इसलिए कि राम तो अपने आप में सिद्ध हैं, पूर्णकाम हैं, लक्ष्मणजी ने ही तो वह स्थिति उत्पन्न की कि श्रीराम के स्वरूप का बोध हुआ । मानो अखण्ड ज्ञानघन भगवान श्रीराम की उपलब्धि में वैराग्य ही मुख्य साधन है और लक्ष्मणजी मानो मूर्तिमान वैराग्य हैं ।

बिनु गुर होइ कि ग्यान
ग्यान कि होइ बिराग बिनु ।
गावहिं बेद पुरान, सुख
कि लहिअ हरि भगति बिनु ।। ७/८९

यह पूरा प्रसंग ही अन्त:करण-शोधन का है । इसीलिए गोस्वामीजी कहते हैं कि यदि विवाह का आनन्द लेना है, तो मण्डप बाहर भी बनाइए, लीला का आनन्द लीजिए, परन्तु उसके साथ-साथ मण्डप अपने भीतर भी बनाइये और आपका हृदय ही जनकजी का विवाह-मण्डप है । और तब – जब चारों अवस्थाएँ अपने स्वामियों के साथ हमारे अन्त:करण के विवाह-मण्डप में विद्यमान होती हैं, उनका मिलन होता है, भगवान का विवाह होता है, तभी हमारे अन्त:करण की परिपूर्णता होती है –

सुंदरीं सुंदर बरन्ह सह
सब एक मंडप राजहीं ।
जनु जीव उर चारिउ अवस्था
बिभुन सहित बिराजहीं ।। १/३२५/४

यह प्रसंग अनन्त है, इसका समापन तो हो नहीं सकता । इसी तरह आपकी भगवत्-कथा की भूख भी समाप्त न हो, यही अच्छा है । उत्कण्ठा और जिज्ञासा बनी रहे और कथा-प्रसंग का क्रम चलता रहे । मुझे विश्वास है कि इस तत्त्व-ज्ञान के माध्यम से आप कृतकृत्यता का अनुभव करेंगे और तब आपको लगेगा कि अब और कुछ करना बाकी नही है, पर न करनेवाला करता दिखाई देता है । महात्मा लोग क्यों करते हैं? विश्वामित्रजी बोले – जनक, तुम तो कृतकृत्य हो गये, पर बाकी लोग भी तो कृतकृत्य हो जायँ ।

और तब वह शब्द आता है – सखी कहती है कि यदि सीताजी का विवाह श्रीराम से हो जाय, तो सभी कृतकृत्य हो जायँ । जिस कृतकृत्यता का आनन्द हमने पाया, वह दूसरों को भी मिले, यही सन्तों की कृपा है और यही विश्वामित्रजी ने जनकजी से कहा कि तुम तो कृतकृत्य हो गये, पर अब बारात में, इस मण्डप में सबको सम्मिलित होने दो, मानो यही रामकथा का उद्देश्य है । इसका अभिप्राय है कि हम भगवान राम के चरित्र का अनुकरण करने का प्रयास भी करें, पर वह तो बिना उनके रूप-गुण-शील का ध्यान किये बिना और अन्त में तत्त्वत: उनके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किये बिना सार्थक नहीं है, अत: राम अनुकरणीय भी हैं, पर वस्तुत: वे ध्येय और ज्ञेय हैं, जब हम इन तीनों तक पहुँचते हैं, तब हमारा आनन्द अनन्त-गुणित हो जाता है । पहले तो यह सुनने की बात है । किसी ने पूछा – आप इतना कहते हैं, इतना प्रचार करते हैं, क्या आपको सन्तोष होता है? मैंने कहा – "भाई, मेरा काम वैसा ही है, जैसा कि टी. वी. पर प्रचार होता है कि व्यक्ति जब जरूरत होगी, तब खरीदेगा । आपने सुना है, जब जरूरत होगी, तब खरीदिएगा और जब तक जरूरत अनुभव न हो, तब तक आप जो आनन्द ले रहे हैं, लीजिए । मैं तो बहुत आनन्दित होता हूँ और अनुभव करता हूँ कि शरीर अस्वस्थ है तो क्या, यह जो कार्य प्रभु मुझ से ले रहे हैं, इसी में आनन्द है । ❖ (समाप्त) ❖

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (६)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

अध्याय ८

निवृत्ति-मार्ग

मनुष्य वस्तुतः शाश्वत आनन्द या परम शान्ति का इच्छुक है। समस्या इतनी ही है कि वह कहाँ और कैसे मिलेगा – वह नहीं जानता। शुरू में, भ्रमवश वह इन्द्रिय-सुखों को ही चरम आनन्द समझ बैठता है, और इसीलिए इस लोक तथा परलोक के मनोरम भोगों के लिए लालायित रहता है।

सन्तान, धन, यश आदि अनेक विषय मनुष्य के मन को आकृष्ट किये रहते हैं। इन्हीं की प्राप्ति हेतु वह आजीवन दौड़ता रहता है। किसी इच्छित वस्तु को पाकर कुछ दिनों के लिए वह उसी के भोग में डूब जाता है; परन्तु कुछ वस्तुएँ किसी भी प्रकार उसकी पकड़ में नहीं आतीं और इस कारण वह दुखी रहता है। फिर, कुछ वस्तुएँ उसके हाथ में आकर भी एक दिन सहसा लुप्त हो जाती हैं। बड़े प्रयास से प्राप्त उस वस्तु के इस प्रकार खो जाने से उसका मन पीड़ा से परिपूर्ण हो जाता है। फिर, एक इच्छित वस्तु प्राप्त होते ही दूसरी वस्तु की इच्छा उसे अशान्त कर डालती है। जन्म-जन्म तक इसी प्रकार दुख-भोग करने के बाद एक दिन उसका भ्रम पकड़ में आ जाता है। तब वह अपने अन्तर में समझ लेता है कि भोगों से इन्द्रियों की तृप्ति तो कभी होती नहीं, अपितु उससे लालसाएँ ही और उग्र हो उठती हैं। जब तक व्यक्ति को ऐसा ज्ञान नहीं होता, तब तक उसका समग्र जीवन क्षणिक सुखों के लिए एक अविराम दौड़ मात्र ही बना रहता है। इस पथ पर उसे कभी शान्ति नहीं मिलती। अतृप्त कामनाओं और प्रिय वस्तुओं से विछोह से उसका मन सदैव पीड़ित रहता है। इसी प्रकार अनेक जन्म बीत जाते हैं। मृत्यु के मुख में वह कभी नहीं पड़ना चाहता, पर प्रवृत्ति मार्ग में रहकर कभी जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा नहीं पा सकता।

यहाँ तक कि स्वर्ग तथा अन्य उच्चतर लोकों की विशुद्ध सुखराशि भी व्यक्ति को चिर शान्ति नहीं दे सकती। पुण्यवान व्यक्ति मरणोपरान्त स्वर्ग में जाकर वहाँ के अपार आनन्द का अधिकारी तो होता है, पर वह सीमित काल के लिए ही है। इसके बाद उसे पुनः पृथ्वी पर आना पड़ता है।[१]

वस्तुतः जब तक व्यक्ति कामनाओं की प्रेरणा से चलता है, तब तक उसे इस लोक या परलोक में – कहीं भी चिर-शान्ति नहीं मिलती। कामना ही वह एकमात्र जंजीर है, जो उसे संसार से बाँधे रखती है।

इसके बावजूद व्यक्ति कामनाएँ छोड़ने को राजी नहीं होता। वह इन्द्रियों का दास बना रहता है। इन्द्रिय-तृप्ति ही उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य होता है। जैसे ऊँट के मुख से खून बहता रहे, तो भी वह कँटीली झाड़ी खाना नहीं छोड़ता, ठीक वैसे ही व्यक्ति भी जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़कर अनन्त दुखों से त्रस्त होकर भी मधुर-से प्रतीत होनेवाले इन्द्रिय-सुखों का मोह नहीं छोड़ सकता।

संसार में अधिकांश लोग ऐसे ही हैं। अतः प्रवृत्ति-मार्ग ही उनकी साधना की पहली सीढ़ी है। कामनाओं का त्याग उनके लिए नहीं है। श्रद्धापूर्वक शास्त्रों के विधि-निषेधों का पालन ही उनकी साधना है। इसी से क्रमशः कामनाएँ संयत हो जाती हैं और इहलोक व परलोक में सुख भी मिलता है। इसके साथ-साथ उनका मन कुछ-कुछ पवित्र हो जाता है। स्वर्ग के असीम सुखों का भोग करके वे इसी पृथ्वी पर लौट आते हैं और पूर्वापेक्षा अधिक श्रद्धा के साथ प्रवृत्ति-मार्ग का आश्रय लेते हैं। पुण्य-कर्मों के फलस्वरूप उन्हें फिर स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यह आवागमन-चक्र तब तक चलता रहता है, जब तक मन पर्याप्त शुद्ध नहीं हो जाता।

क्रमशः वे कामनाओं की असारता का अनुभव करने लगते हैं। बार-बार के अनुभव के फलस्वरूप एक दिन वे समझ जाते हैं कि भोग के द्वारा कामनाएँ तृप्त नहीं होतीं, अग्नि में घी की आहुति देने की भाँति, कामनाओं का भोग उन्हें और भी अधिक प्रबल बनाता है, इसके अतिरिक्त अपूर्ण कामनाएँ बड़ी कष्टदायक होती हैं। फिर, स्वर्ग आदि लोकों का सुख-भोग भी स्थायी नहीं होता। अपने अनुभवों के आधार पर उसमें यह दृढ़ धारणा बन जाती है कि जिस चिर-शान्ति को वह इतने काल से ढूँढ़ता रहा है, वह प्रवृत्ति-मार्ग उसे कभी भी नहीं दे सकता। अस्तु, इसी प्रकार कामनाओं की निष्फलता का बोध करके, वे अनन्त शान्ति, अनन्त जीवन और अनन्त ज्ञान के मार्ग की खोज में निकलते हैं।[२]

१. मुण्डक उपनिषद्, १/२/१०

२. मुण्डक उपनिषद्, १/२/१२

यह खोज ही वस्तुत: धर्म-जीवन की शुरुआत है। प्रवृत्ति-मार्ग तो धर्म की प्राथमिक शिक्षा मात्र है। थोड़ी-सी चित्तशुद्धि करके इन्द्रिय-भोगों की असारता का बोध करा देना ही इसका लक्ष्य है और यही तक इसकी सार्थकता भी है। व्यक्ति को पूर्णता के मार्ग तक पहुंचाकर ही प्रवृत्ति-मार्ग का साधन समाप्त हो जाता है।

जब तक हम सुखों की आशा से विषयों में आसक्त रहेंगे, तब तक हमारे हृदय के ईश्वर अव्यक्त रहेंगे। उसे प्रकट करना हो, तो हमें अपनी दृष्टि को विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करना होगा। ऐसा कर पाने से ही जीवन में चरम सार्थकता आती है; और तभी अमृतत्व, अपार शान्ति तथा असीम ज्ञान की प्राप्ति होती है।

इन्द्रिय-सुखों की तृष्णा पूर्णत्व-प्राप्ति के पथ में एकमात्र बाधा है। यही हमें संसार में आबद्ध रखती है। हमें इस बाधा को पार करना होगा। इसे पार करने के प्रयास तथा सफलता में ही वास्तविक धर्म का आरम्भ व अन्त है। कामनाओं से हम ज्योंही मुक्त होंगे, त्योंही हमारे हृदय-देवता पूर्ण रूप से प्रकट हो जायेंगे।

निवृत्ति या त्याग का मार्ग हमें इस चरम लक्ष्य तक पहुँचा देता है। निवृत्ति मार्ग यही शिक्षा देता है कि हम किस प्रकार कामनाओं का समूल नाश करके अपने आध्यात्मिक स्वरूप को जाग्रत करें। अत: यही धर्म का सच्चा पथ है।

जो लोग प्रवृति-मार्ग के विशेष पक्षधर हैं और उसी को परम धर्म मानते हैं, भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में उनकी निन्दा की है।[३]

त्याग के मार्ग में ही सच्चे धर्म-जीवन का सूत्रपात होता है। कठोपनिषद् के एक सुन्दर श्लोक में यह पूरा विषय संक्षेप में इस प्रकार कथित है – "सृष्टिकर्ता ने हमारी सभी इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है, इसलिए स्वभावत: हम इनसे बहिर्जगत को ही जान पाते हैं, न कि अपने स्वरूप को। तो भी अमृतत्व के आकांक्षी किसी-किसी धीर व्यक्ति ने इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अन्तरात्मा को देखा है।"[४]

उपनिषदों में ऐसे अनेक वाक्य हैं। नीचे एक और उद्धृत किया जाता है – "कर्म, पुत्र या धन के द्वारा नहीं, एकमात्र त्याग के द्वारा ही कुछ लोगों ने अमृतत्व को पाया है।"[५]

इन्हीं श्रुति-वाक्यों के अनुरूप एक सुन्दर उक्ति भी है – **जहाँ राम तहँ काम नहीं, जहाँ काम नहीं राम**। वर्तमान युग में श्रीरामकृष्ण ने भी कहा है – "काम-कांचन की आसक्ति गए बिना ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती।"[६]

इसी का नाम निवृत्ति-मार्ग है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह मार्ग लम्बा और दुर्गम है, परन्तु पूर्णता की ओर अग्रसर होने के लिए इसका अवलम्बन करना अनिवार्य है।

वैसे त्याग के भी अनेक पथ हैं और उनमें से प्रत्येक एक ही लक्ष्य तक पहुँचाता है। निवृत्ति-मार्ग के सभी मार्ग एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं। जिस प्रकार संसार में एक ही स्थान पर पहुँचने के लिए हम अपनी सुविधानुसार जल, थल या वायु मार्ग के लिए विभिन्न यानों का उपयोग करते हैं, उसी प्रकार परमार्थ-लाभ के लिए भी हम निवृत्ति मार्ग के विभिन्न पथों में से कोई एक अपनाकर उसी एक लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। हिन्दू धर्म में विभिन्न स्वभाव के साधकों के लिए विभिन्न पथ बताये गए हैं। कोई कर्म पसन्द करता है, तो कोई ध्यान; कोई स्वभाव से भावुक है, तो कोई तर्क-विचार पसन्द करता है। हिन्दू धर्म में ऐसे हर श्रेणी के साधक के लिए भिन्न-भिन्न पथों की व्यवस्था है।

निवृत्ति-मार्ग के साधनों को योग कहा जाता है, क्योंकि इनकी सहायता से हमारा ईश्वर के साथ योग अर्थात् मिलन होता है। यद्यपि हम उनके साथ सर्वदा ही मिलित हैं, पर इस बारे में सचेत नहीं हैं। ये साधन हममें निरन्तर मिलन की चेतना जगा देते हैं, इसीलिए इन्हें योग कहा जाता है।

मोटे तौर पर हिन्दू-धर्म में चार प्रकार के स्वभाव के लोगों के लिए चार विभिन्न योगों की व्यवस्था की गयी है। कर्मी के लिए कर्मयोग, युक्ति-विचार में रुचि रखनेवाले के लिए ज्ञानयोग, भावुक जनों के लिए भक्तियोग और प्रत्यक्ष-वादियों के लिए राजयोग की व्यवस्था है।

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि हजारों लोगों में से शायद कोई एक व्यक्ति मुक्ति के लिए सच्चा प्रयास करता है। वस्तुत: बहुत कम लोग ही प्रकृति पर विजय पाकर मुक्त होना चाहते हैं। जिन्होंने अनेक जन्मों के अनुभव से विषय-भोगों की व्यर्थता जान ली है, केवल वे ही त्याग का पथ अपनाते हैं। केवल वे ही विषय-वासना को बन्धन मानते हैं और जी-जान से उससे मुक्त होने की चेष्टा करते हैं।

मुमुक्षु व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह उपरोक्त चार योगों में से किसी एक का आश्रय लेकर उसके अनुसार साधना करे। कौन-सा योग किसके लिए उपयुक्त होगा और उसमें आनेवाली बाधाओं को किस प्रकार पार किया जा सकेगा, यह सब ठीक-ठीक जानने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। हिन्दू-शास्त्र स्पष्ट रूप से बताते हैं कि साधना-पथ में गुरु की नितान्त आवश्यकता है।

❖ (क्रमश:) ❖

---

३. गीता, २/४२ ४. कठोपनिषद् २/१/१ ५. कैवल्योपनिषद्, १/२
६. यहाँ स्वामी विवेकानन्द की स्पष्टोक्ति भी स्मरणीय है – "प्रकाश और अन्धकार के समान इन्द्रिय-भोग और भगवत्-प्रेम परस्पर विरोधी हैं। कांचन की दासता और भगवान की सेवा एक साथ असम्भव है। उनके लिए सर्वस्व त्यागो।"

आत्माराम की आत्मकथा (९)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य द्वारा इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमे श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

टिहरी के पथ पर वहाँ से पाँच मील दूर एक ग्राम है, यह जानकर मैं शाम को रवाना हुआ। उसने ठहरने को बहुत कहा था, पर मेरी वहाँ रहने की इच्छा नहीं हुई। पहाड़, नदी, जंगल, निर्जन, प्राणीशून्य और मैं एकाकी चला जा रहा था। मन में एक अपूर्व स्फूर्ति का भाव था – प्रकृति का दृश्य मनोरम था – इच्छा हो रही थी कि प्रबन्ध होता, तो कुछ दिन यहीं रह जाता। लेकिन कौन करता प्रबन्ध! परन्तु यह सौन्दर्य निर्भय नहीं है, इसके साथ भय भी सतत सम्बद्ध है। सभी सौन्दर्यों के साथ क्या ऐसा ही नहीं होता? परन्तु शास्त्र और महापुरुष कहते हैं कि जो आत्म-तत्त्व जान लेते हैं, उनका सारा भय दूर हो जाता है। आज भी तो मुझे उस तत्त्व की प्राप्ति नहीं हुई है। भय अवश्य है, परन्तु उसके कारण लौटने की इच्छा नहीं है। अन्तर में उसका थोड़ा प्रभाव है, वह 'आशंका' के रूप में प्रकट तो होता है, परन्तु अभिभूत नहीं कर पाता। यह भी कब दूर होगा!

यही सब सोचते-सोचते तथा प्रकृति के सौन्दर्य का उपभोग करते हुए सायंकाल एक ग्राम में पहुँचा। ग्राम काफी बड़ा था। और – "यहाँ रहने का स्थान मिल सकता है या नहीं" – पूछते ही एक पहाड़ी युवक मुझे एक खाली मकान के ऊपरवाले बरामदे में ले गया और उसी ने रात के भोजन का प्रबन्ध भी कर दिया। संध्या का अन्धकार घना होता जा रहा था, तो भी सामने बड़े चौक में स्त्रियों में से कोई लकड़ी या पत्थर के ऊखल में धान कूट रही थी या कोई सरसों को कूट-कूटकर उसका तेल निकाल रही थी। चारों तरफ मकान थे और बीच में एक बड़ा-सा मैदान, जहाँ लड़के खेल रहे है, स्त्रियाँ काम कर रही हैं और पुरुषगण हुक्का पीते हुए आपस में बातें कर रहे हैं। यह ग्राम अच्छा समृद्धिशाली है।

ये पहाड़ी लक्ष्मियाँ सुबह के चार बजे से ही काम शुरू कर देती हैं और उन्हें अब भी विश्राम नहीं है। अब भी रसोई पकाना बाकी है, फिर खाना खायेंगे और तब बर्तन माँजकर सुबह का नाश्ता बनाकर सोयेंगी। फिर यदि उनके छोटा बच्चा हो, तो शायद रात भर उसकी सेवा करते हुए ठीक से सो भी नहीं सकेंगी। इसी तरह इनका एक-एक दिन व्यतीत होता है। क्या सुख है इस संसार में? लेकिन इसी में वे सुख मानती हैं। आनन्द करती हैं और हँसते-खेलते सारा कष्ट सहन करती हैं। और उपाय भी क्या है? शरीर जब हुआ है, (एक दयालु या निर्दय ईश्वर की सृष्टि हो, अथवा जो भी हो) तो उसका सुख-दुख भोग करना ही पड़ेगा, और जिसे जिसमें आनन्द आता है, जिसे जिसमे सुख का अनुभव होता है, वह वैसा ही क्यों न करे?

वैसे त्याग का आदर्श, ब्रह्मानन्द के काल्पनिक सुख की महत्ता लोगों के सामने रखना अति उत्तम कर्म है, लेकिन वह कितने जनों के भाग्य में होता है? या फिर कितने लोग ठीक-ठीक त्यागी हो सकते है? और जहाँ दया है, वहीं निर्दयता भी तो है। ईश्वर यदि दयालु हैं, तो कभी वे निर्दय भी हो सकते हैं। यदि वे निर्दय न होते, तो उनके द्वारा सृष्ट संसार में इतने भयंकर दुखों का राज्य क्यों होता? यदि कहो कर्म ही उसके लिए उत्तरदायी है, तो सुख के लिए भी तो कर्म ही उत्तरदायी है, अत: कर्म की उपासना करना ही उचित है। ईश्वर की उपासना करने और उसके लिए इतना कष्ट उठाने से क्या लाभ? ऐसे भगवान के लिए रोना व्यर्थ है, जो दुखियों का दुख दूर करने में अक्षम है। उसका आश्रय लेने की क्या जरूरत, जो कर्मों के फल की शक्ति का अपनी इच्छानुसार परिवर्तन करने की सामर्थ्य नहीं रखता, जो अशुभ फलों को शुभ फलों में परिणत कर दुखों से अपनी शरणागत सन्तानों की रक्षा करने में अक्षम है। जो आनन्द हाथ की मुट्ठी में है, उसे छोड़ पागलों की तरह एक अज्ञात, अप्रमाणित, काल्पनिक आनन्द के पीछे दौड़ना क्या बुद्धिमत्ता का काम है?

जैसे अनेक लोग पेरु (ब्राजील) में सोने की बालुकाराशि से पूर्ण नदी की खोज में गये थे और लौटकर एक मिथ्या बात रखकर अपना स्वार्थमय राज्य विस्तार करने का मार्ग बनाया था; जो लोग ब्रह्मानन्द के अपूर्व आनन्द की कहानी कहते या कह गये है, वे भी क्या वैसी ही टोली के लोग नहीं है – इसका क्या प्रमाण है? मूल विषय के बारे में अल्प समय में अनुसन्धान द्वारा सत्य या असत्य का निर्णय करना सम्भव पर न होने से भी, साधारण मनुष्य ने भी प्रारम्भ में उस पर विश्वास कर लिया था। पर यह तो एक सूक्ष्म विषय है, साधारण व्यक्ति के लिए असाध्य है। मान लो, ब्रह्मानन्द की सचमुच ही प्राप्ति हो सकती है और वह इस नश्वर सांसारिक आनन्द की तुलना में अत्यधिक आनन्ददायक है,

पर वह भी तो हर किसी के भाग्य में नहीं होता, इसीलिए जिसको जो मिलता है, वह क्यों न उसी को लेकर सन्तुष्ट रहे। शास्त्रकार क्यों उन्हें नरक-कीट कहकर सम्बोधित करते हैं? स्त्री को क्यों नरक का द्वार कहेंगे? क्या वे शास्त्रकार भी उसी के माध्यम से इस जगत् में नहीं आये थे। स्त्री न तो 'नरक का द्वार' है और न ही 'स्वर्ग का द्वार'। वह प्रकृति की सन्तान है और प्राकृतिक आनन्द देने के लिए है। उससे न ही स्वर्ग जाते हैं और न नरक। ब्रह्मदर्शी महापुरुषों ने यह साधारण बात जानते हुए भी, ऐसे शब्द का क्यों उपयोग किया? उन्होंने निश्चय ही अन्याय किया है। समाज के नैतिक जीवन की उन्नति की ओर दृष्टि रखकर इस शब्द का उपयोग नहीं हुआ है, यह तो सिर्फ पुरुषों में एक प्रकार का भय पैदा करने के लिए किया गया है और जो मानते थे कि स्त्रियों को वेद-अध्ययन करने का या किसी उत्तम धार्मिक अनुष्ठान में भाग लेने का अधिकार नहीं है, वे ही इस प्रकार का शब्द व्यवहार कर गये हैं। यदि 'स्त्री-रूप' में रमणी के साथ सम्बन्ध में 'बन्धन' होता है, तो उसे 'मातृ-रूप' में देखो। वह 'जननी' है – इस विषय में तो जरा भी सन्देह नहीं है।

निस्तब्ध रात की गोद में बैठकर इसी प्रकार इधर-उधर की बातें सोचता रहा। सोचा था कि झरने की मधुर झर-झर ध्वनि, शीतल वायु का सुखद स्पर्श और रास्ते की थकावट के कारण निद्रादेवी का शीघ्र शुभागमन होगा, लेकिन हुआ इसके ठीक विपरीत। इन विचारों से सिर गरम हो गया था और नींद कैसे भी नहीं आ रही थी। मन में बारम्बार वही बात आ रही थी – तो क्या इस निषेध के पीछे कोई ऐतिहासिक कारण भी हो सकता है? "जहाँ कहीं सुन्दरी सुलक्षणा मिलेगी, वहीं जाति-वर्ण का विचार किये बिना ही ग्रहण करोगे" – मनु की इस उक्ति के भीतर क्या इसका गुप्त तथ्य छिपा हुआ है, या फिर ब्राह्मणों द्वारा चारों वर्ण की कन्या के ग्रहण की छूट के पीछे वह निषेध ही कारण है, या फिर ऐसा भी हो सकता है, जो अवैदिक धर्म के विश्वासी जातियों के साथ वैवाहिक आदान-प्रदान रहने के कारण यह नियम है।

ऐसा सोचते-सोचते न जाने कब नींद आ गई। सुबह चार बजे चक्की की धड़-धड़ आवाज से नींद खुल गई। तब भी काफी अन्धकार था। थोड़ी रोशनी होते ही शौच, स्नान आदि करके टिहरी के रास्ते पर चलने का आयोजन कर रहा था – देखा, बगल वाले मकान की गृहिणी एक बड़े कटोरे में गुड़ की चाय लाई है – "बाबाजी, चाय पीओ। कहाँ जा रहे हो अभी? रोटी खाकर जाना।" मैंने कहा – "टिहरी जाऊँगा। सुबह-सुबह पहाड़ों की चढ़ाई-उतराई करने में ज्यादा कष्ट नहीं होगा। धूप निकल जाने पर मुझे बड़ा कष्ट होता है। मैं मैदानी अंचल का आदमी हूँ न माँ, इसीलिए।" वह बोली – "तुम स्वतंत्र हो, तुम्हारी जो इच्छा। परन्तु यदि खाकर जाओ, तो मुझे बड़ा आनन्द होगा।" यह कहकर वह कटोरी लेकर चल दी। मैं भी कन्धे पर कम्बल डाले चल दिया।

वही वैचित्र्यमय पहाड़, जंगल और नदी। कहीं सुन्दर – मनोहर और कहीं विकट – डरावना दृश्य! दिन काफी चढ़ गया था। चढ़ाई-उतराई करते-करते थक गया था। भूख भी लग आयी थी। कोई झरना आते ही भरपेट पानी पीता और कमण्डलु में भी पानी भर लेता। चलते-चलते उसी में से थोड़ा-सा पी लेता। और भी दिन चढ़ गया। भूख से इतना कातर हुआ कि चलने की शक्ति मानो नहीं रही। दस-पाँच कदम चलते ही थक जाता था। उतराई में ज्यादा कष्ट नहीं होता था, लेकिन चढ़ाई आने से पेट तथा सीने में दर्द होता और साँस रुक-सी जाती। इतने में, रास्ते से थोड़े ऊपर आम का एक बड़ा-सा पेड़ देखा और उसमें दो-चार छोटे-छोटे आम भी लगे हुए थे। पेड़ बहुत ऊँचा था, चढ़ने का कोई उपाय नहीं था। इसीलिए पेड़ के नीचे ही ढूँढ़ने लगा और चार-पाँच आम मिले भी। बहुत खट्टे थे, तो भी खा लिये। थोड़ी दूर आगे रास्ते के किनारे एक जंगली गूलर का पेड़ था। देखा – खूब गूलर लगे हुए हैं। पेड़ पर चढ़कर बहुत-से गूलर तोड़े। मेरे पास एक पीतल का गिलास और माचिस भी थी, सोचा – गूलरों को उबालकर अपनी भूख मिटाऊँ। गहन जंगल था, केवल 'झीं-झीं' के सिवा और कोई आवाज सुनाई नहीं देती थी। लोगों का कोई चिह्न नहीं था।

शायद फिर रास्ता भूल गया हूँ। जो भी हो, गूलर काट कर गिलास में पानी भरकर और सूखे पते जलाकर उनको उबालने का प्रयास किया। परन्तु वे किसी भी तरह नहीं पक रहे थे, उनका काला कस निकलकर गिलास के चारों तरफ लग गया। संध्या होने को थी, तब भी नहीं पका और न नरम ही हुआ। कमण्डलु का पानी भी प्रायः समाप्त हो गया था। रात होने के पहले पानी मिलना बहुत जरूरी था, नही तो भूख की पीड़ा और प्यास से ही आज मृत्यु होगी। एक मुट्ठी वह कच्चा गूलर ही खाया। दाँत खट्टे हो गये और गले में खराश होने लगी।

मजबूरन गूलर का लोभ छोड़कर आगे बढ़ा। संध्या होते-होते एक नदी के किनारे पहुँचा। हाथ-पैर धोकर भरपेट उसी का बरफ के समान ठण्डा पानी पीया। इससे पेट में दर्द होने लगा। नदी के उस पार एक छोटा-सा कमरा मिला, जिस पर कोई छत न थी। ग्राम नहीं दिख रहा था, लेकिन पास ही खेत था। कहीं घुटनों तक और कहीं छाती तक पानी पार करके उस ओर पहुँचा। देखा – कमरा नया तैयार हो रहा है और लकड़ी के बहुत-से टुकड़े इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। वहीं कम्बल बिछाया और आग जलाकर तापने लगा। कंकणों के घर्षण से दोनों पैरों में छाले पड़ गये थे। बहुत पीड़ा हो रही थी, सेंकने से कुछ आराम मिल रहा था।

धरती पर चारों ओर अन्धकार छा चुका था। कोई नहीं है। – खाली पेट में बहुत-सा पानी पी लेने के कारण बीच-बीच में उसमें बहुत दर्द उठ रहा था। फिर पैरों की ऐसी दुर्दशा और पीड़ा ! सोच रहा था – "परिव्राजक-जीवन का आनन्द क्या सबको इस प्रकार दुख के माध्यम से ही मिलता है या मेरे लिए कुछ विशेष है? स्वाधीनता – पक्षी की भाँति केवल परिव्राजक ही स्वाधीनता भोग सकते हैं। शास्त्रों की यह बात कितनी alluring (मोहक) है ! स्वाधीनता तो है, पर इसका मूल्य कितना भयंकर है ! हर तरह की स्वाधीनता क्या ऐसे ही कष्ट के द्वारा ही प्राप्त होती है? ओह ! ओह ! माँ !"

इतने में मनुष्य के पैरों की आवाज सुनी। एक पहाड़ी ने अन्दर झाँका। उसे अन्दर बुलाया। – "क्या स्वामीजी? तुम कहाँ से आ रहे हो?" कहकर चिलम खींचने लगा। मैंने सब कुछ बताया। वह बोला – "हमारे गाँव में चलो न !" मैंने पूछा – "तुम्हारा गाँव कितनी दूर है।" – "नजदीक ही है। यही कोई दो कोस होगा।" – "नहीं भाई, इतनी दूर चलने की क्षमता मुझमें नहीं है, मेरे पैरों की हालत देखते हो न !" पहाड़ी ने कहा – "यहाँ रहने से तुम्हें कौन खाने को देगा? मेरे साथ धीरे-धीरे वहाँ चलो, वहाँ जाकर सत्संग करेंगे और दो-एक दिन विश्राम करने से तुम्हारे पैर ठीक हो जायेंगे।" मैंने कहा – "सब ठीक है, लेकिन भाई, चलने की जरा भी शक्ति नहीं है और फिर सारे दिन का भूखा हूँ, तुम्हीं बोलो मैं क्या करूँ?" पहाड़ी ने थोड़ी देर सोचने के बाद कहा – "यह तो ठीक है, लेकिन यहाँ भूखे पड़े रहोगे? अच्छा, तो कल सुबह गाँव में आओगे न?" मैंने पूछा – "तुम्हारा गाँव क्या टिहरी के रास्ते में है?" पहाड़ी ने कहा – "नहीं, नहीं। तुम्हें टिहरी जाना है, तो यहाँ कहाँ आ गये?" टिहरी यहाँ से भी जा सकते हो, मगर रास्ता बड़ा खराब है और बीच में कोई बस्ती या गाँव नहीं है। हमारे गाँव से भी वहाँ जाने का यही रास्ता है।" मैंने कहा – "तो फिर मैं तुम्हारे गाँव नहीं आ सकूँगा। अच्छा, रास्ते में क्या एक भी गाँव नहीं है?" पहाड़ी बोला – "यहाँ से नदी के किनारे-किनारे चलने पर तीन कोस दूर एक व्यक्ति का खेत तथा मकान मिलेगा। आदमी अच्छा है। वहाँ तुम्हारा सत्कार होगा, फिर तुम आगे का रास्ता पूछ लेना। वहाँ से जाने के दो रास्ते हैं।"

यह सब कह कर वह चला गया। मैं और कोई चिन्ता न करके सोने का प्रयास करने लगा। लेकिन भूखे पेट नींद नहीं आ रही थी और बेचैनी का अनुभव हो रहा था। शायद इसी प्रकार यह शरीर चला जायेगा। अच्छा ही होगा, देह-धारण के दुख से भी तो कुछ दिनों के लिए छुटकारा मिल जायेगा ! जिनके ऊपर भरोसा करके निकला था, मेरा कल्याण-अकल्याण जिनके ऊपर निर्भर है – उनकी इच्छा शायद ऐसी ही होगी। इसी प्रकार की तरह-तरह की बातें सोचते-सोचते यह पता ही नहीं चला कि कब नींद आ गई।

जब आँखें खुली तो देखा कि काफी देर हो गयी थी, सुबह के सात या आठ बजे रहे होंगे। जल्दी-जल्दी स्नान आदि करके नदी के किनारे-किनारे टिहरी की दिशा में चलना शुरू किया। आशंका थी कि कहीं फिर रास्ता न भूल जाऊँ। प्रथम, तो चलना ही कठिन हो रहा था। पैरों के तले के फफोले तो फूट जाने से थोड़ा आराम मिला था, तो भी कंकड़ पर पाँव रखते बड़ा कष्ट होता था। बहुत धीरे-धीरे सावधानी के साथ पाँव रखते हुए चल रहा था। थोड़ी दूर चलने के बाद ठीक नहीं लग रहा था। शायद पाँवों के लगातार घर्षण से उसमें गर्मी उत्पन्न हो जाती थी।

दोपहर के लगभग बारह बजे रहे होंगे। सूर्यदेव सिर पर थे। नदी के किनारे-किनारे चलकर एक किसान के आँगन में पहुँचा। किसान, अपने स्त्री-पुत्र के साथ बैलों से धान की दँवरी कर रहा था। (यहाँ के पर्वतीय निवासी अधिकाशत: राजपूत थे) उसने मेरा स्वागत करके बैठाया। "कहाँ के निमित्त इधर आये हैं?" – आदि पूछने के बाद गुड़ और पानी देकर वह बोला – "थोड़ा जलपान करके आराम कीजिए, मेरा लड़का पास के गाँव से गेहूँ लाने जा रहा है, शाम को रोटी खाकर आराम करने के बाद कल सुबह प्रस्थान करना।" मैंने पूछा – "वह गाँव यहाँ से कितनी दूर है?" पहाड़ी ने बताया – "डेढ़ कोस होगा, उस सामने के पहाड़ पर चढ़कर जाना पड़ता है।" वह चढ़ाई देखकर मेरा दिल काँप उठा। सोचा – "दो दिन से भूखा हूँ और वह चढ़ाई करने गया, तो चढ़ते-चढ़ते ही मर जाऊँगा। नदी के किनारे पानी पी-पीकर मर जाना बल्कि इससे कहीं अच्छा होगा। मैंने पूछा – "वह गाँव क्या टिहरी के मार्ग में है?" उसने कहा – "नहीं।" मैंने फिर पूछा – "अच्छा, तो टिहरी के रास्ते के पास क्या कोई गाँव नहीं है?" पहाड़ी – "है और यहाँ से ज्यादा दूर नहीं है।" मैं – "यहाँ से कितना दूर होगा? और चढ़ाई है या नहीं?" उसने बताया – "अधिक दूर नहीं है, इस सामने के पहाड़ के ऊपर है। चढ़ाई केवल मील भर की होगी।" मैंने सोचा – "लगता है कि इस बेचारे के पास अन्न की कोई व्यवस्था नहीं है, गेहूँ लायेगा, पीसेगा, फिर रोटी बनायेगा। इसकी अपेक्षा तो निकट के गाँव में जाना उचित प्रतीत हो रहा है। और अब तो केवल एक मील चढ़ाई ही बाकी रह गई है। जाते-जाते यदि मृत्यु हो जाय, तो भवलीला समाप्त हो जायेगी, और क्या !" अधिक विलम्ब किये बिना मैं कन्धे पर कम्बल रखकर चल दिया। पहाड़ी ने दुखी होकर कहा – "क्या करूँ महाराज, घर में गेहूँ नहीं है, इसलिए लड़के को थोड़ा-सा उधार लाने के लिए भेज रहा हूँ। रहने से आपको बिना खिलाये जाने नहीं देता।"

❖ (क्रमश:) ❖

नेतृत्व का गुण

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

आज मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों में जैसी गिरावट आयी है, वैसी ही उसके उस पक्ष में भी आयी है, जिसमें से नेतृत्व का गुण प्रकट होता है। 'नेतृत्व' का अर्थ होता है 'ले जाने का भाव' अर्थात् जो दूसरों को आगे ले जा सकता है, उसमें नेतृत्व के गुण हैं, ऐसा कहा जा सकता है। इसी को सामान्य बोलचाल की भाषा में 'नेता' कहा जाता है।

आज से कुछ समय पहले तक या यों कह लीजिए जब तक हमारे देश को आजादी नहीं मिली थी तब तक 'नेता' शब्द बड़े सम्मान का द्योतक था। सुभाषचन्द्र बोस जैसे शूर-वीर और आत्मत्यागियों से 'नेता' शब्द सम्मानित हुआ था और आज भी हम उन्हें 'नेताजी' ही कहते हैं। पर आजादी के बाद से नेता शब्द क्रमशः मखौल और व्यग्य का पर्याय बनता जा रहा है। कारण साफ है। नेतृत्व के वे गुण जब व्यक्ति में नहीं रह जाते, जिनके बल पर वह दूसरों की श्रद्धा खींचता है, तब डण्डे या पैसे के जोर पर ही वह दूसरों को अपने स्वार्थ के लिए बटोरने की चेष्टा करता है और 'नेता' कहलाता है।

आज अन्य सभी वस्तुओं की भाँति 'नेता' शब्द का भी अवमूल्यन हुआ है। पहले नेता कहने से एक ऐसे व्यक्ति का चित्र आँखों के सामने उभरता था, जो आत्मत्यागी हो, निःस्वार्थी हो, जो समाज या देश के कल्याण के लिए अपना सब कुछ खोने के लिए प्रस्तुत हो, जो अपने साथियों का दुःख-दर्द मिटाने के लिए स्वय को मिटा देने के लिए तैयार हो। ऐसा व्यक्ति आत्म-विज्ञापन नहीं करता था कि मैं नेता हूँ, उसके गुणों का कीर्ति-सौरभ बिना घोषणा के चारों ओर बिखर जाता था, जैसे फूल के खिलने पर उसकी सुगन्ध वायुमण्डल में छा जाती है। और तब लोगों को हाँककर लाने की जरूरत नहीं पड़ती थी, वे तो परागलोभी मधुकरों की भाँति स्वयं ही खिंचकर उसके पास चले आते थे और उसके जीवन में जलती हुई बलिदान की आग को देख त्याग और देशभक्ति की प्रेरणा पाते थे। पर आज वह माहौल नहीं रहा। पहले 'नेता' पदवी प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अनुशासन के तप में अपने को तपाता था, पर आज सत्ता पाने की अन्धी दौड़ में भाग लेने हेतु खड़ा हो जाने को ही नेता मान लिया जाता है। जो येन-केन-प्रकारेण कोई काम करवा सके, वह नेता है। जो धन से किसी को खरीद सके, वह नेता है। अखबारों में अपने बयान छपवा सके, वह नेता है। डण्डे के बल पर दूसरों पर धौंस जमाता रहे, वह नेता है। दूसरों की टाँग पकड़कर खींचकर गिरा दे सके, वह नेता है। भाषणों में अच्छी खासी गप्प हाँक सके और झूठे आश्वासनों के द्वारा जनता को प्रलोभित कर उनका वोट खींच सके, वह नेता है। जो स्वयं पैसा डकारकर एक निरपराधी को जेल भिजवा सके, वह नेता है। झूठ बोलता हुआ भी सत्य की दुहाई देता रहे, वह नेता है।

ऐसी परिस्थितियों में नेतृत्व के गुण भला कहाँ से प्रकट हो पाएँगे? जो सचमुच का त्यागी है और अपने साथियों का हित चाहता है, उसके पास वाग्जाल नहीं होता, चाटुकारिता नहीं होती, वह झूठे आश्वासन देना पसन्द नहीं करता। उसकी कथनी और करनी में अन्तर नहीं होता। उसके पीछे आज के युग में भले ही भीड़ नहीं दिखायी देती, पर आज भी वह अपने नेतृत्व के गुणों से दूसरों में चिनगारी पैदा कर दे सकता है। आवश्यकता है मानवीय गुणों में मूलभूत आस्था की।

अंगरेजी में कहा गया है - "Some are born great, some achieve greatness, and on some greatness is thrushed." - "कुछ लोग महान् पैदा होते हैं, कुछ लोग महानता प्राप्त करते हैं और कुछ पर महानता थोपी जाती है।" तो, यही बात नेतृत्व के लिए भी कही जा सकती है - कोई नेता ही पैदा होता है, कोई नेतापन अर्जित करता है और किसी पर नेतापन थोपा जाता है। आजकल इस तृतीय श्रेणी की भरमार है, जहाँ थोपे हुए नेतापन का मुखौटा लगाकर आचारहीन और भ्रष्ट लोग समाज में नेता का सम्मान पा रहे हैं। इसीलिए अच्छी अच्छी योजनाओं के बावजूद देश उठ नहीं पा रहा है। देश का उत्थान नेतृत्व के सच्चे गुणों की अभिव्यक्ति से ही हो सकता है, नारों के शोर-शराबे से नहीं। ❑❑❑

श्रीमाँ का देवित्व-प्रकाशन

डॉ. ओंकार सक्सेना, एम.एस.

(भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, शल्य-चिकित्सा विभाग, सवाई मानसिह मेडिकल कॉलेज, जयपुर)

विस्मयपूर्वक अपनी पंचवर्षीय नन्हीं पुत्री सारदा के मुख को घूरकर देखते हुए माता श्यामासुन्दरी ने कहा – "बेटी ! तू कौन है? तू मेरी क्या लगती है? मेरी पहचान में क्यों नहीं आती? माँ, अगले जन्म में भी इसी को मेरी बेटी बनाना।" उन्होंने प्रार्थना की – "तुम मुझे दुबारा नीचे मत खींचना माँ, बस, मैं बारम्बार इसी की माँ बनूँ, इसी में मुझे तृप्ति है।"

गदाधर की आध्यात्मिक उन्नति से प्रकट हाव-भाव तथा स्वभाव को मानसिक विकृति मान बैठने से चिन्ताग्रस्त हुई उनकी माता चन्द्रामणि और भाई रामकुमार ने मिलकर यह निश्चय कर लिया कि इसका एकमात्र उपाय होगा – गदाधर का विवाह कर देना। गदाधर को इस प्रयोजन की खबर न हो जाये, इसलिये चोरी-छिपे वधू की खोज होने लगी। अथक प्रयास हुआ, पर सफलता नहीं मिली।

इधर गदाधर अपने अन्तर्ज्ञान से सब कुछ जानते थे। एक दिन उन्होंने भावावस्था में कहा, "इधर-उधर भटकने से कोई लाभ न होगा। जाओ, जयरामवटी में रामचन्द्र मुखर्जी के घर जाकर देखो, मेरे निमित्त कन्या वहाँ चिह्नित हो चुकी है।" यह कन्या श्यामासुन्दरी की आकर्षक, अद्भुत और आनन्द-मूर्ति नन्हीं सारदा थी। पाँच वर्ष की सारदा के साथ तेइस वर्ष के गदाधर का विवाह अपने आप में एक बड़ी अद्भुत घटना थी, जिसके रहस्य का उद्घाटन शनैः शनैः हुआ है।

दो अद्भुत विभूतियाँ दक्षिणेश्वर में एक-दूसरे के सम्मुख उपस्थित हुईं एक सत्यम् शिवम्-ईश्वरी भाव से लबालब और दूसरी अपने ईश्वर तुल्य पति के बारे में सुनी-सुनाई बातों से क्षत-विक्षत। एक आनन्द की हाट का सौदागर और दूसरी अपने हृदय की व्यथा को अपने सीने में छिपाये रहने को बाध्य, परन्तु परस्पर साक्षात्कार होते ही, "अरे ये तो एकदम स्वस्थ हैं – स्वस्थ-चित्त ! प्रेम की प्रतिमूर्ति !" सारदा की अन्तरात्मा ने देखते ही पल भर में सब कुछ समझ लिया। श्रीरामकृष्ण ने श्रीमाँ सारदा देवी को स्वास्थ्य-लाभ होने तक अपने ही कमरे में रहने दिया, जहाँ चिकित्सक सुविधापूर्वक उनकी देखभाल कर सकें।

एक दिन श्रीरामकृष्ण ने एकान्त में श्रीमाँ से प्रश्न किया – "अपने हृदय से सच-सच कहो, क्या तुम मुझे संसार-मार्ग पर खींचने आई हो?" श्रीमाँ ने तत्काल स्वतःस्फूर्त उत्तर दिया – "मैं तुम्हें संसार में भला क्यो खींचूँगी, मैं तो तुम्हारे मार्ग में सहायता करने को आई हूँ।" यह श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ सारदा देवी के जीवन की सर्वोच्च घटना ही नहीं, बल्कि धर्म के इतिहास की एक अनूठी अनुवृत्ति है। यहाँ यह कहना उचित होगा कि श्रीमाँ सारदा के इन शब्दों ने श्रीरामकृष्ण को मानव-मात्र के प्रति समर्पित कर दिया है। श्रीरामकृष्ण द्वारा यह पूछा जाना कि 'क्या तुम मुझे संसार में खींचने आई हो?' मानो उनके द्वारा श्रीमाँ को शक्ति के रूप में स्वीकारना है। भला ऐसे मुहुर्मुहुः समाधिस्थ होनेवाले ब्रह्मज्ञानी को कोई संसार में खींच सकता है ! इस पर भी श्रीमाँ के इस कथन में कि 'मैं तो तुम्हें तुम्हारे मार्ग में सहायता को देने आई हूँ', उनकी सत्ताशीलता की झलक मिलती है।

श्रीरामकृष्ण को उनके मार्ग में सहायता करने का आश्वासन क्या कोई मानवी दे सकती थी? वस्तुतः निरपेक्ष सत्य तो यह लगता है, "शक्तिस्वरूपा श्रीमाँ सारदा ने, मानव कल्याण हेतु, स्वयं को श्रीरामकृष्ण के हाथों में समर्पित कर दिया है।" श्रीरामकृष्ण का यह कहना, "यदि वह इतनी पवित्र न होती तो निश्चय ही मेरा पतन होता।" उनका मातृसत्ता को प्रकाशित करना ही तो है। आगे चलकर श्रीमाँ ने श्रीरामकृष्ण के मुख से यह साफ शब्दों में इस प्रश्न का उत्तर माँग लिया, "अच्छा बोलो तो, तुम मुझे किस दृष्टि से देखते हो?" उत्तर, "वे माँ जिनकी मन्दिर में पूजा हो रही है, उसी माँ ने इस शरीर को (मुझे) जन्म दिया है (और अब नौबत में है), फिर वही माँ इस समय मेरे पाँव दबा रही है। सचमुच मैं तुम्हें साक्षात् आनन्दमयी के रूप में ही देखता हूँ।"

प्रार्थना मंत्र · "हे सर्व-शक्तिमयी त्रिपुरा-सुन्दरी मातः ! सिद्धि का द्वार खोलो। इनका (श्रीमाँ सारदा का) शरीर और मन पवित्र कर, इनमें आविर्भूत होकर सर्व प्रकार से कल्याण करो।" तदुपरान्त माताजी के शरीर में अंगन्यास करके उन्हें साक्षात् देवी समझकर उन्होंने उनकी षोडशोपचार-पूजा की। देखते-देखते श्रीमाँ समाधि में बाह्यज्ञान-शून्य हो गईं और श्रीरामकृष्ण अर्धचेतन अवस्था में मंत्रोच्चारण करते समाधिस्थ हो गये। पुजारी और पूजिता दोनों ही आत्मस्वरूप में पूर्णतः एकीभूत हो गये। समय बीतता गया, तीसरे प्रहर श्रीरामकृष्ण प्रकृतिस्थ हुए और अर्धचेतन अवस्था में मंत्रोच्चारण करते हुए अपनी साधना के समस्त फलों, जपमाला तथा स्वयं को भी सदा-सदा के लिये देवी-चरणों में समर्पित कर दिया, "हे सर्व मंगलों की मंगलस्वरूपा, हे सर्वकर्मो की निष्पन्न-कर्त्री, हे शरणदायिनी, त्रिनयनी, शिवजाया, गौरी, हे नारायणी, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।" पूजा समाप्त हुई, श्रीमाँ के देवी-मानवीयत्व के पूर्ण विकास का द्वार खुल गया। सोचिये,

यदि माँ सारदा स्वयं शक्तिस्वरूपा न होतीं, तो क्या श्रीरामकृष्ण द्वारा पूजित हो सकती थीं? पर इनकी शक्ति का पूर्ण विकास ठाकुर के लीला-संवरण के ३४ साल बाद तक ठाकुर का कार्य-साधन करने में, तरुण संन्यासियों को मातृप्रेम की डोर से बाँधे रखने में और हजारों भटकती आत्माओं का उद्धार करने में हुआ है। श्रीमाँ आज भी हमारे बीच हैं और हमें अपने स्नेह में जकड़े रहती हैं। ठाकुर ने ठीक ही कहा था, "वह तो सारदा है, सरस्वती है। ... ज्ञान प्रदान करने आई है, दया करके उसने अपने सौन्दर्य को छिपा रखा है कि कहीं किसी अपवित्र मनवाले का अनिष्ट न हो जाय।"

श्रीमाँ सारदा अन्तिम समय तक पूर्णतया ठाकुर की सेवा में समर्पित रहीं, इसी कारण बहुत-से भक्तों की अन्तिम आकांक्षाओं को पूर्ण करते हुए भी उनका शरीर सुरक्षित रहा था। अपने अन्तिम दिनों में वे इतने शक्तिहीन हो गये थे कि करवट तक नहीं बदल पाते थे। नरेन्द्र उनके निकट बैठे-बैठे विचार कर रहे थे – "यदि इस अवस्था में भी ये स्वयं को भगवान कह सकें तभी मैं विश्वास करूँगा।" उनके शरीर जाने के केवल दो दिन बाकी थे। वे कहते हैं, "उसी क्षण ठाकुर मेरी ओर देखते हुए कह उठे, 'जो राम हुए थे, जो कृष्ण हुए थे, वे ही इस बार इस शरीर में रामकृष्ण हुए हैं, परन्तु हाँ, तेरे वेदान्त के दृष्टिकोण से नहीं।' ठाकुर की इस अन्तिम वाणी को सुनकर मैं स्तम्भित हो गया।"

ठाकुर श्रीमाँ की सुरक्षा के प्रति भी संवेदनशील रहे थे। उन्हें लगता कि यदि सारदा समय-पूर्व अपनी अन्तर्निहित शक्ति को पहचान गयीं, तो लौटने को व्याकुल हो जायेंगी। एक दिन श्रीरामकृष्ण की बातों के दौरान ही श्रीमाँ सो गईं। एक महिला को उन्हें जगाने का प्रयास करते देख ठाकुर बोले, "उसे मत जगाओ, क्या वह यों ही सो गई है? नहीं, वह जानबूझ कर सोई है, कहीं मेरी वाणी उसके अन्तर-बोध को जगाकर उसे अपने धाम लौटने को प्रेरित न कर दे।"

"अरे, तू जिसका ध्यान कर रहा है, वह तो रसोई पका रही है, जा उसकी मदद कर" – ठाकुर का ध्यानमग्न लाटू से ऐसा कहना भी इसी दिशा में संकेत है। श्रीमाँ द्वारा सारी फल-मिठाइयाँ मुक्त-हस्त से भक्तों में बाँट देने पर ठाकुर द्वारा अप्रसन्नता दिखाने से माँ के रूठकर स्थान छोड़कर चले जाने की घटना ने ठाकुर को इतना विचलित कर दिया कि उन्होंने फौरन रामलाल को बुलाकर कहा, "रामलाल, जा, जल्दी जाकर उसे मना, उसके क्रोध से कहीं मेरा सब कुछ नष्ट न हो जाय।" और एक बार तो वे स्वयं ही खेद व्यक्त करने श्रीमाँ के द्वार पर पहुँचे – गलती उनसे यह हुई थी कि श्रीमाँ को लक्ष्मी (अपनी भतीजी) के भ्रम में बिना देखे ही उन्हें 'तू' कह दिया था। इन प्रसंगों में ठाकुर द्वारा श्रीमाँ सारदा को भक्तों के समक्ष शक्तिस्वरूपा प्रकाशित किया गया है। एक बार ठाकुर ने कहा था, "यदि ईश्वर स्वयं तुम्हारे सामने आ जायँ और कहें कि मैं ईश्वर हूँ, तो क्या तुम उसकी बात पर विश्वास कर लोगे, नहीं न !" किन्तु एक ऐसे व्यक्ति को जिसे विद्वानों की एक महागोष्ठी में खुली चर्चा के बाद सर्व-सम्मति से ईश्वरावतार स्वीकार कर लिया गया हो और यदि वह कहे कि यह मेरी शक्ति है, तब तो बिना प्रश्न किये ही इसे स्वीकार करना होगा।

कई बार श्रीमाँ का ईश्वरत्व स्वयं उन्हीं के श्रीमुख से भी प्रकट हुआ था : जैसे वृन्दावन में वे कह बैठीं, "मैं ही तो राधा हूँ" और यहीं पर ठाकुर ने उन्हें दिव्य-दर्शन देकर कंगन उतारने से मना करते हुए कहा था, "जिसके पति स्वयं श्रीकृष्ण हों, उसका वैधव्य कैसा? कंगन मत उतारो।" ऐसे ही रामेश्वरम् में शिवलिंग का स्पर्श करते ही माँ के श्रीमुख से निकल पड़ा, "जैसे रख गई थी, वैसे ही हैं।"

एक दिन शरीर-मन से विकृत राधू को अफीम के लिए पैसे देने से मना करने पर, उसका गुस्से में आकर एक बड़े बैंगन से माँ की पीठ पर प्रहार करने से हुई असह्य वेदना-भरे क्षणों में क्षमा-निवेदन करते हुए श्रीमाँ ने अपनी चरण-धूलि से उसका मस्तकाभिषेक किया और स्नेह से कहा, "राधी ! ठाकुर ने इस शरीर के प्रति कभी कठोर शब्दों तक का प्रयोग नहीं किया और तूने इतनी तीव्र पीड़ा दी। ओह ! तू क्या जाने मैं कहाँ की हूँ?" ऐसे ही शब्द श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से भी निकले थे, मिथ्या वचनों से श्रीमाँ को पीड़ा पहुँचाने पर उन्होंने गोलाप-माँ को प्रताड़ित करते हुए कहा था, "तू नहीं जानती कि वह कहाँ की है? जा, फौरन जाकर क्षमा-याचना कर।" इसी प्रकार के अनेक प्रसंगों में श्रीमाँ सारदा और श्रीरामकृष्ण के दिव्य पारस्परिक प्रेम व्यक्त हुआ है। श्रीमाँ की दैवी प्रतिभा ने भक्तों को आनन्दित तो किया ही है, साथ ही ठाकुर से वचन लेकर माँ ने हमें निर्भीक भी कर दिया है, "तुम्हारे (ठाकुर) पास जो आयेगा, उसका यह अन्तिम जन्म होगा और उसे तुम्हें दर्शन देना ही होगा।" ठाकुर से उन्हें आश्वासन मिला और वे कह गयी हैं – मेरी प्रत्येक सन्तान को, चाहे अन्त समय में ही क्यों न हो, वे दर्शन देंगे तथा हाथ पकड़ कर अपने धाम में ले जायेंगे।

❑❑❑

उमारूपिणी माँ सारदा

स्वामी गुरुशरणानन्द, रमणरेती, मथुरा

(१९९८ ई. में हरिद्वार के महाकुम्भ तथा रामकृष्ण मिशन की शताब्दी के उपलक्ष्य में 'अखिल-भारतीय अखाड़ा परिषद' तथा 'षड्दर्शन साधु समाज' के सहयोग से कनखल-सेवाश्रम में एक सन्त-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। इस सम्मेलन के अवसर पर भारत के प्रमुख सन्तो तथा विद्वानों को आमंत्रित करके विभिन्न विषयों पर कई विचार-गोष्ठियों का आयोजन किया गया था। श्रीमाँ सारदा देवी पर अपने विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करने 'उदासीन पंचायती बड़ा अखाड़ा के महा-मण्डलेश्वर श्रीमच्छ्रामी गुरुशरणानन्द जी महाराज भी वहाँ पधारे थे। १३ अप्रैल १९९८ ई. को प्रदत्त उनके भाषण का अनुलेख उक्त 'सन्त-सम्मेलन' की विवरणिका से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

माँ के एक सपूत तथा वृन्दावन सेवाश्रम के सह-सचिव स्वामीजी ने श्रीमाँ से मेरा परिचय तब कराया था, जब मैं वहाँ एक रोगी के रूप में भर्ती था। वे मुझसे स्नेह करते थे। उस समय के अनुभव मेरे जीवन के सर्वाधिक सुखद क्षणों में हैं। उन स्वामीजी ने मुझे एक घटना सुनाई थी। ठाकुरजी ने लीला-संवरण कर लिया था, पूज्य स्वामी विवेकानन्द जी ने भी महासमाधि ले ली थी। लेकिन विद्यारूपिणी माँ ठाकुर के निर्देश से या अपने मातृ-स्नेहवश शिशुओं को वात्सल्य-आश्रय और करुणा प्रदान करने के निमित्त इस धराधाम पर विराजमान हैं। वे बहुत वृद्धा हो गई हैं। जाड़े के दिन हैं। वे बाहर धूप सेंक रहीं हैं। उनसे भी अधिक उम्र की एक वृद्धा श्रीमाँ से पूछती हैं, "माँ, यह काम-भाव क्या कभी समाप्त नहीं होगा?" अद्भुत प्रश्न है! एक साधक ही ऐसा प्रश्न कर सकता है। माँ का उत्तर भी अद्भुत है। बड़े-बड़े विश्व-विद्यालयों की बड़ी-से-बड़ी डिग्री का लेबल हमारे पीछे चिपका हुआ है। लेकिन सामान्य रूप से गोबर थापनेवाली-सी दिखनेवाली उन विद्यारूपिणी ने क्या अद्भुत उत्तर दिया है – "माँ! यह शरीर काम से उत्पन्न हुआ है और शरीर के नष्ट होने पर ही यह काम-भाव नष्ट होगा।" आप सब साधक हैं। यह उत्तर कितना गूढ़ और गम्भीर है।

काम तो तुम्हारे मूल में है। माता-पिता के हृदय में काम हुआ, तो शरीर उत्पन्न हुआ। माता-पिता के ही अन्दर क्यों, सृष्टि के मूल में भी काम है। परमात्मा के मन में काम की उत्पत्ति हुई, तभी सृष्टि हुई –

सोऽकामयत एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय।

काम कैसे निवृत्त होगा? लोभ कैसे निवृत्त होगा? मोह कैसे निवृत्त होगा? पूज्य स्वामीजी से अनेक बातें आपने सुनीं। देवी ने कहा है –

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदा अवतीर्याहं करिष्यामि अरिसंक्षयम्।।

– 'जब कभी भी दानवों के द्वारा बाधा उत्पन्न होगी, तब तब मैं स्वयं को प्रगट करके तुम्हारे शत्रुओं का विनाश करूँगी।'

दुर्गा-देवी ने मधु-कैटभ का वध किया, वे महिषासुर-मर्दिनी हुईं, चण्ड-मुण्ड-विघातिनी हुईं, पर माँ सारदा ने तो ऐसा कुछ नहीं किया; कहीं प्रगट में किसी को इस तरह से मारते हुए उनको नहीं देखा गया। माँ के अनेक रूप हैं। बाहर के शत्रु विकराल अवश्य हो सकते हैं, लेकिन उतने भयानक नहीं होते हैं। बड़े शत्रु तो वे हैं, जो हमारे अन्तःकरण में रहते हैं। माँ कभी काली बनकर आती हैं, कराली बनकर आती हैं, तो कभी चामुण्डा बनकर आती हैं, पर जो दानव हमारे हृदय के अन्दर बैठे हुए हैं, उनकी निवृत्ति तो करुणामयी विद्यामयी सारदा के अनुग्रह के बिना सम्भव ही नहीं है।

केन-उपनिषद् की एक कथा मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत करूँ। देवासुर-संग्राम हो गया है। देवता विजयी हुए, दानव पराजित हुए। सभी देवता अहंकार से भर गये। हर देवता कहता है – "हमारे कारण ही यह विजय हुई है।" यह एक बड़ी प्रसिद्ध आख्यायिका है। परमात्मा ने सोचा – अहंकार के कारण ही तो इनका पतन हुआ था! यह विचारणीय हो सकता है कि देवासुर-संग्राम कोई ऐतिहासिक घटना है या नहीं, लेकिन हमारे अन्तःकरण में तो निरन्तर देवासुर-संग्राम होता रहता है। जब तुम्हारे हृदय में पाप की प्रवृत्ति जाग्रत हो, तो समझ लेना कि आसुरी प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। जिस समय तुम्हारे हृदय में सात्त्विक भावनाओं का उद्रेक हो, सत्कर्म करने की अभिलाषा हो, तो समझ लेना कि अब इस समय दैवी प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं।

तो देवासुर-संग्राम बाहर हो या न हो, हमारे अंतःकरण में सदैव ही हो रहा है, इसे हम और आप सब जानते हैं। आप लोग साधक हैं, अतः – **स्मारये न तु शिक्षये** अर्थात् आपको केवल स्मरण करा रहा हूँ, शिक्षा देने का अहंकार नही कर सकता। आप लोगों ने देखा होगा कि पाप करने की रुचि और प्रवृत्ति जितनी स्वाभाविक होती है, सत्कर्म करने की प्रवृत्ति उतनी स्वाभाविक नहीं होती है। वहाँ ठाकुर और माँ का सम्बल आवश्यक होता है; और इसलिए आप देखते हैं कि **असुरों की विजय उनके पुरुषार्थ से होती है और देवों की विजय जब भी हुई है, उसमें भगवान को सहयोग करना पड़ा है,** हस्तक्षेप करना पड़ा है। चाहे शक्ति के रूप में आयें, चाहे वे शक्तिमान के रूप में आये; काली के रूप में आयें, या कृष्ण के रूप में आयें, पर उनके आने से ही आसुरी प्रवृत्तियों

का दमन हो पाता है और सात्त्विक प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं। दैवी और आसुरी प्रवृत्ति में भेद ही क्या है? **अहंकार ही आसुरी प्रवृत्ति है, निरहंकारिता ही दैवी प्रवृत्ति है।**

जिसमें अहंकार आया, समझ लो वह आसुरी प्रवृत्ति की ओर बढ़ रहा है और इसीलिए अहंकार को सबसे बड़ा शत्रु कहा गया है। यह अहंकार ही काम और क्रोध के रूप में परिणत होता है। तो देवता लोग अहंकार में भरे सोच रहे हैं – हमने जीता, हमने जीता, हमने जीता। परमात्मा ने सोचा – अभी तो इनको किसी प्रकार से हमारे अनुग्रह से विजय प्राप्त हुई और ये पुन: पराजित होना चाहते हैं। जिस क्षण हममें अहं का प्रवेश हो उसी क्षण समझ लेना चाहिए कि अब हमारा पतन अवश्यम्भावी है। सावधान हो जाओ, सतर्क हो जाओ, माँ की शरण ग्रहण करो, ठाकुर की शरण ग्रहण करो, उनसे प्रार्थना करो कि प्रभो ! इस अहंकार से मेरी रक्षा करो, चाहे धन का अहंकार हो, चाहे विद्या का अहंकार हो, चाहे रूप का अहंकार हो। ठाकुर तो कहते थे – नम्रता का अहंकार भी अहंकार है; मैं तो बड़ा दास हूँ, इस तरह का अहंकार भी पतन का हेतु है।

अहंकार से निवृत्ति आवश्यक है। अतएव यक्ष के रूप में परमात्मा वहाँ आते हैं। सबसे पहले अग्नि को भेजा गया कि पता करो कि यह यक्ष कौन है। अग्नि गये। उन्होंने पूछा – "आपका परिचय?" यक्ष बोले – "पहले आप अपना परिचय दें।" अग्नि को लगा यह मुझे नहीं जानता है। उन्होंने कहा – "मैं वैश्वानर हूँ, अग्नि हूँ, संसार में जो कुछ है सब कुछ जला सकता हूँ।" यक्ष ने कहा – "अच्छा, आपकी यह विशेषता है।" फिर उन्होंने एक तिनका अग्नि के सामने रखकर कहा – "इसको जलाकर दिखाए, मुझे परिचय तो हो जाये।" अग्नि ने तिनके को जलाने का पूरा प्रयास किया। तिनका जलाना क्या, उसके रंग तक में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अग्नि सिर झुकाकर चले आये। जैसे हारा हुआ जुआरी पैर घसीटते हुए लौटकर आता है, उसी तरह से अग्नि अपने तेज से हत होकर आते हैं; किसी को पूछना नहीं पड़ा कि परिचय ले आये?

वायु देवता को भेजा गया कि तुम परिचय ले आओ। वायु देवता वहाँ गये। यक्ष ने पूछा – "आप कौन हैं?" – "मैं वायु देवता हूँ।" – "आपकी सामर्थ्य?" – "संसार में जो कुछ है, उसको उड़ाकर फेंक सकता हूँ।" – "तिनका रखा हुआ है, कृपया उड़ा करके अपना परिचय दें।" प्रभंजन ने बहुत प्रयास किया, लेकिन तिनका उड़ाने की क्या बात कहें, उसकी करवट तक नहीं बदल सके। वायु देवता भी लौट गये।

इस प्रकार जब सब देवता हततेज होकर लौट गये, तब इन्द्र आये। इन्द्र तो सबसे बड़े अभिमानी हैं, क्योंकि वे देवताओं के भी राजा हैं। यक्ष उनको देखकर अदृश्य हो गये। सबसे बड़ा अपमान तो इन्द्र का हुआ। वे मन-ही-मन कहते हैं – "अरे ! औरों से तो उसने दो बातें भी की, लेकिन मुझको तो किसी खेत की मूली नहीं समझा, मुझसे तो बात भी नहीं की।" अब सब-के-सब देवता निरभिमानी हो गये हैं, तब वहाँ हैमवती उमा प्रगट होती हैं। इन्द्र ने पूछा – "माँ ! ये यक्ष कौन थे?" माँ ने कहा – "इन्द्र ! यह वही परम तत्त्व था, जिसकी कृपा से वायु चलती है, जिसकी सामर्थ्य से अग्नि जलती है, जिसके कारण सूर्य प्रकाश देता है। जो कुछ भी पौरुष तुममें दृष्ट हो रहा है, ये सब-के-सब जिसके अनुग्रह से हैं, यह वही तत्त्व था।"

अब माता के बारे में जान लो। ये हैमवती उमा हैं। उमा यानि 'उ म् आ'। यदि उसे थोड़ा बदल दें तो – 'आ उ म् ॐ। ॐ क्या है? ॐ ब्रह्म-विद्या है। – यह विद्या कब प्रगट होती है? – जब मनुष्य अहंकाररहित हो जाता है, तब प्रगट होती है। यही ज्ञान प्रदान है। ठाकुर कहा करते थे – "अरे ! उसको माया-माया कहकर उसकी उपेक्षा मत करना। माया-माया न कहकर उनसे प्रार्थना करना, 'तू तो करुणामयी हैं, कृपा कर आवरण हटा दे।' उसने आवरण डाल रखा है वही जब आवरण हटायेगी, तो तुमको परमात्मा का साक्षात्कार होगा।" माँ की करुणा के बिना परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। ठाकुर छाँट-छाँट कर दीक्षा देते थे, लेकिन माँ सबको आश्रय देती हैं।

एक पुत्र की उत्पत्ति में माता और पिता दोनों का ही सहयोग होता है, लेकिन बेटा अगर सजा-धजा, साफ-सुथरा बनकर आया है, तो पिता उसको गोद में ले लेता है, उसको बड़े प्रेम से खिलायेगा-पिलायेगा और अगर बच्चे ने कहीं उसकी गोद में टट्टी या पेशाब कर दिया, तो कहेगा – ले जाओ, ले जाओ, साफ करो, साफ करो। तुरन्त माँ के पास भेज देगा। माँ ने चाहे तीस हजार की बनारसी साड़ी पहन रखी हो और बेटा धूल-धूसरित, गन्दा, लात मारता हुआ चला आ रहा हो, तो माँ अपने वस्त्रों को नहीं देखती, तुरन्त बच्चे को गोद में लेती है, अपने अंक का प्रेम देती है, उसको साफ करती है, पोछती है, तेल मालिश करके, काजल लगाकर, साफ कपड़े पहनाकर फिर पिता की गोद में दे देती है। सारदा माता ऐसी ही थीं। माँ न जाति देखतीं, न कुजाति देखतीं। मुसलमान आकर मजदूरी कर रहा है। नलिनी उसे दूर से भोजन दे रही है, यह देख माँ कहती हैं – "नलिनी ! तू इसे दूर से भोजन दे रही है और ऐसे दे रही है !" नलिनी के हाथ से थाली लेकर माँ उस मुसलमान को अपने हाथ से परोसती हैं, भोजन के बाद वहाँ सफाई करती हैं। नलिनी कहती है – "बुआ, यह क्या कर रही हो? तुमको समाजवाले क्या कहेंगे?" इस पर माँ कहती हैं – "समाजवाले क्या कहेंगे? मुसलमान भी तो मेरा बेटा है।" जगत्-जननी माँ ने अपने हाथों से वहाँ सफाई की। उस

समय के बंगाल का आप स्मरण करें, छुआछूत उस समय चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था और उस समय भी माँ ने अपने हाथ से एक मुसलमान को भोजन कराया, उसकी जूठी थाली को माँजा। आज भी बंगाल के घरों में ऐसा करने में कठिनाई है, फिर आज से सौ साल पहले की कल्पना करें! माँ के चरित्र के सम्बन्ध में अब मैं क्या आपसे कहूँ!

माँ कामारपुकुर में हैं। ठाकुर लीला-संवरण कर चुके हैं, स्वामीजी की भी महासमाधि हो गयी है। घर के अन्दर कोई नहीं है। एक दिन हरीश विक्षिप्त अवस्था में माँ के पीछे दौड़ पड़ा। माँ आगे-आगे भाग रही हैं और पीछे-पीछे वह दौड़ रहा है। माँ ने कई चक्कर लगये। जब थक गयीं, तो दौड़ कर उसकी छाती के ऊपर जा बैठती हैं और उसकी जीभ खींचकर गालों पर थप्पड़ लगाती हैं। माँ ने कौन-सा रूप धारण किया था – इसकी आप जरा कल्पना करें। माँ अति साधारण रूप में रहती थीं, लेकिन जब उन्होंने अपना रूप दिखाया, तो हरीश डर गया और भागकर वृन्दावन चला गया। माँ कराली भी हो सकती हैं, माँ कुमारी भी हो सकती हैं और उपासना के लिए माँ षोड़शी भी हो सकती हैं। जिस किसी भी प्रकार से जीव का कल्याण हो – यही माता का परम लक्ष्य हुआ करता था। स्वामी विवेकानन्द जी महाराज जब शिकागो धर्ममहासभा में सम्बोधन के लिये अमेरिका जा रहे थे, तब उन्होंने विशेष करके माँ से अनुमति माँगी। माँ ने उनको अनुमति दी, आशीर्वाद दिया कि जाओ तुम सफल होगे। हम और आप सब जानते हैं कि माँ के आशीर्वाद ने स्वामीजी को किस तरह की सफलता दी।

माँ पहले दीक्षा देना नहीं चाहती थीं। ठाकुर ने अपने सामने ही किसी को आदेश दिया था – "जाओ, उनसे दीक्षा ले लो।" कुछ लोग कहते हैं, माँ ने उस समय दीक्षा दी थीं, लेकिन कुछ लोग कहते हैं कि उस समय नहीं दिया था; लेकिन बाद में वृन्दावन में ठाकुर ने (स्वप्न में) माँ को और अपने एक अनुगत (स्वामी योगानन्द) को लगातार तीन दिन तक निर्देश दिया। माँ से कहा – "तुम दीक्षा दो", और अनुगत से कहा – "माँ से दीक्षा लो।" और उसका क्या परिणाम हुआ, यह हम सब जानते हैं। वृन्दावन में मुक्ति का द्वार खुला और इसके खुलने के बाद अनन्त जीवों का उद्धार हुआ।

अग्नि और अग्नि की दाहिका-शक्ति में कोई अन्तर नहीं। वाणी और उसके अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार अग्नि से अग्नि की दाहिका-शक्ति को अलग नहीं किया जा सकता है, वाक् और अर्थ को अलग-अलग नहीं किया जा सकता है, जल और उसके लहरों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार ठाकुर और माँ सारदा को अलग नहीं किया जा सकता है। हमारे समझने और देखने में वे अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं, लेकिन वस्तुत: वे अलग-अलग नहीं हैं।

विद्या से क्या प्राप्त होता है? **सा विद्या या विमुक्तये** – विद्या मुक्ति के लिए है, ठाकुर तक पहुँचाने के लिए है। **विद्या ददाति विनयम्** – विद्या अभिमानशून्यता प्रदान करती है। इस अभिमानशून्यता के कारण ही पात्रता है। परमात्मा तो सर्वत्र व्याप्त है। ठाकुर तो हम सबके सामने लीला कर रहे हैं और करेंगे। लेकिन हमारे चक्षु उन्हें देख नहीं पाते हैं, क्योंकि इनके आगे अहंकार का पर्दा छाया हुआ है।

हमारे अंत:करण में मद, विक्षेप और आवरण – तीनों हैं। निष्काम कर्म करें, माँ की सेवा करें, तो मद की निवृत्ति होगी। माँ की उपासना करें, काली के रूप में करें, सारदा के रूप में करें, लक्ष्मी के रूप में करें, किसी रूप में करें, उस उपासना से अन्त:करण का विक्षेप निवृत्त होगा और वही माँ अनुग्रह कर आवरण को निवृत्त करेंगी। मद, विक्षेप और आवरण – तीनों की निवृत्ति के लिए माँ सारदा का अनुग्रह, विद्या का अनुग्रह, विद्यारूपिणी का अनुग्रह, साक्षात् विद्या का अनुग्रह अत्यन्त आवश्यक है। शीशे में हमको मुँह नहीं दिखाई पड़ रहा है, उसके ऊपर थोड़ी धूल पड़ गयी है, वह हिल रहा है और उसके आगे पर्दा है। दूसरा शीशा लाने की जरूरत नहीं है, शीशे के ऊपर जो मिट्टी लगी है, उसको साफ कर दो, वह जो हिल रहा है उसके स्टैंड को थोड़ा कस दो और उसके ऊपर जो पर्दा है उसको हटा दो, तो रूप प्रत्यक्ष हो जाएगा। लेकिन जब तक ये तीनों निवृत्त नहीं करोगे, तुम्हें इस रूप का भान नहीं होगा। ये तीन कृत्य माँ हमसे करवाती हैं। मुझे याद है, मेरी माँ ने हाथ पकड़कर कैसे 'क' लिखवाया था, 'ख' लिखवाया था, भोजन करना भी सिखाया था, भजन करना भी सिखाया था। वे भगवती माँ-सारदा हम श्रीरामकृष्ण के पुत्रों को सिखाती हैं।

जब ठाकुर का विवाह हुआ था, तो माँ-सारदा की माँ ने सोचा – "यह पागल-जैसा जमाई क्या मेरी बेटी की कद्र करेगा? ऐसा बावला पति! मेरी बेटी क्या कभी सन्तान का मुख देख सकेगी!" ठाकुर ने वचन दिया था – "तुम चिन्ता न करो, इसकी इतनी सन्तानें होंगी, इतनी सन्तानें इसे 'माँ' 'माँ' कहेंगी कि सुनते-सुनते इसके कान के पर्दे फटने लग जायेंगे।" हमें यह तो मालूम है कि माँ सारदा के कान के पर्दे फटने लगे थे या नहीं, लेकिन माँ की इतनी सन्तानें हुईं, जितनी किसी और माँ की आज तक नहीं हुई। पापी-तापी-सन्तापी – जो भी आये सबको माँ ने अपने गले से लगाया। ऐसी माँ-सारदा के निमित्त श्रद्धांजलि अर्पित करने का सौभाग्य जिन चरणों की कृपा से, जिन सन्तों की कृपा से प्राप्त हुआ, उन सन्तों के चरण में प्रथम वन्दना करते हुए, ठाकुर-स्वामीजी के चरणों में वन्दना करते हुए, उन जगत्-जननी के चरणों में नमन करके मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ।

❑❑❑

ज्ञानदायिनी माँ सारदा

स्वामी सत्यरूपानन्द

दुर्गा-सप्तशती में माँ दुर्गा इस निखिल ब्रह्माण्ड में किस किस रूप में विराजमान हैं, इसका बड़ा रोचक तथा प्रेरक वर्णन है। एक स्थान पर कहा गया है – **या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमो नमः** – जो देवी सभी प्राणियों में शक्ति रूप में विद्यमान हैं, उन्हें प्रणाम !

सृष्टि का आरम्भ ही तो शक्ति के आलोड़न से होता है। शक्ति के इस आलोड़न का शमित होना ही प्रलय है ! मृत्यु है !! जीवन का दूसरा नाम ही तो शक्ति है।

इस शक्ति का आदि स्रोत एक ही है। जब यह शक्ति अचल निष्क्रिय स्थिति में होती है, तब उसे ब्रह्म कहा जाता है। यह अचल और निष्क्रिय ब्रह्म अनिर्वचनीय तथा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता की परिधि से परे है। इस रूप में यह अज्ञेय है।

किन्तु क्या यह सर्वथा सर्वकालीन अज्ञेय है? यदि ऐसा हो तो वह हमारे किस काम का? नहीं, वह सर्वथा सर्वकालीन अज्ञेय नहीं हैं। अज्ञेय और अनिर्वचनीय ब्रह्म ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता की परिधि में तब मानों सिमट जाता है, जब वह सक्रिय शक्ति के रूप में लीला करता है। तब वह ज्ञान और अनुभूति का विषय हो जाता है। सक्रिय शक्ति रूपी ब्रह्म ही हमारी आराधना और उपासना का विषय है। वही अभय, वरदायी है। उसी की आराधना, उपासना द्वारा उसी की कृपा से हमारा जीवन कृतकृत्य और धन्य होता है।

इस शक्ति की कृपा का प्रथम स्फुरण तब होता है जब वह हमारे मन और इन्द्रिय की गोचर होकर इस धराधाम में अवतरित होती है। इस अवतरण के पीछे हेतु क्या है? करुणा, जीव के प्रति अहैतुकी कृपा !!

उसकी करुणा और कृपा को पहचानने की क्षमता भी तो जीव में होनी चाहिए। शक्ति जब ऐश्वर्य और वैभव के साथ अवतरित होती है तब उसके प्रति जीव के मन में 'भय' मिश्रित श्रद्धा उत्पन्न होती है। वह इस शक्ति के सामने 'नत' तो होता है पर अपनत्व बोध नहीं कर पाता। सखा कृष्ण के साथ कितना अपनत्व है ! कितना ममत्व है ! किन्तु वही अर्जुन उनके विराट् तथा ऐश्वर्यशाली रूप में कम्पित गात्र खड़ा है।

इस ईश्वरीय शक्ति से अपनत्व बोधकर उसके अंक में जाकर ही तो जीव शिव होता है। ऐश्वर्य की चकाचौंध में भला कभी अपनत्व होता है? अंक में जाया जाता है? इसीलिए तो करुणामयी इस बार ग्राम्य बाला के रूप में जयरामबाटी में रामचन्द्र मुखर्जी के घर आईं। और आईं भी प्रथम सन्तान – सबसे बड़ी कन्या होकर। जन्म से ही मानो मातृत्व की मूर्ति। छोटे-छोटे पाँच भाइयों को आमोदर नदी में नहलाना। उनको खिलाना-पिलाना, एक शब्द में माँ के समान उनका पालन- पोषण करना। तभी तो जयरामबाटी ग्राम की 'सारू' आज लाखों देशी-विदेशी भक्तों की 'माँ' और 'होली मदर' होकर उनके हृदय में विराज कर सब प्रकार से उनका मंगल कर रही हैं।

यह सब इसलिए सम्भव हुआ कि ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवी, साक्षात् लक्ष्मी होकर भी वे अत्यन्त कृपापूर्वक हम सबको अपनत्व बोध कराने के लिये, अपने अंक में ले लेने के लिये दरिद्रता में रहीं। बाह्यिक ऐश्वर्य और वैभव की छाया तक नहीं उनमें !

अभी स्वयं किशोरी नववधु होकर दक्षिणेश्वर आईं। आते ही भक्तों की माँ हो गईं। ठाकुर श्रीरामकृष्ण ने बोध करा दिया कि जो भवतारिणी मंदिर के गर्भ गृह में विराजकर भक्तों की सेवा-पूजा ग्रहण कर रही हैं, वही तो 'नहबत' में रहकर भक्तों के लिये भोजन बना रही हैं। जगज्जननी के दो रूप भवतारिणी और सारदामणि।

माँ तुम्हारा भवतारिणी रूप कितने लोग देख पाते हैं? कोई एक रामप्रसाद, कोई एक रामकृष्ण और शायद कोई एक नरेन्द्र। इसीलिये तो माँ करुणामयी तुम इस बार आई सारदामणि के रूप में हम सब की अपनी माँ होकर। "अमजद मेरा वैसा ही पुत्र है जैसा शरत्" – ब्रह्मज्ञानी शरत् महाराज और अपराधी अमजद के प्रति समान प्रेम, समान करुणा, यह तुम्हें छोड़कर और कौन दिखा सकता था माँ ! तुम्हारी करुणा, तुम्हारे प्रेम में कोई दूसरा नहीं, कोई पराया नहीं। सब अपने हैं। तभी तो जगत् कल्याण के लिये लीला संवरण के केवल पाँच दिन पहले अन्नपूर्णा की माँ को निमित्त बनाकर समस्त आध्यात्मिक साधना के सागर को गागर में उड़ेल कर सुख-शान्ति का महामंत्र तुमने दिया, "यदि शान्ति चाहती हो बेटी तो किसी के दोष मत देखना, दोष केवल अपना ही देखना। संसार को अपनाना सीखो। कोई पराया नहीं बेटी, संसार तुम्हारा ही है।"

यही तो सूत्र है जीवन साधना का। यही उपाय है व्यक्ति के कल्याण का।

पराया होना, दूसरा होना, यही तो सारी अशान्ति के मूल में है। जब तक हमारी दृष्टि में 'दूसरा' रहेगा, हम दुःख और अशान्ति से बच नहीं सकते। 'दूसरे' के होते ही भेद शुरू होता है। भेद स्वार्थ को जन्म देता है। फिर 'अपनी सुविधा' – 'अपना सुख' देखना पड़ता है। उसकी व्यवस्था करनी पड़ती है। 'अपनी व्यवस्था' करने में दूसरों की उपेक्षा न चाहकर भी हो जाती है और उपेक्षा हो जाने पर बदले में न चाहकर भी हमें वह घृणा के ब्याज के साथ वापस मिलती

है। यह घृणायुक्त उपेक्षा हमारी सुख-सुविधा के आयोजन में हमारे न चाहने पर भी विष का बूँद बनकर टपक पड़ती है तथा हमारे समस्त व्यक्तित्व को कड़वाहट से भर देती है। और यह सब होता है 'पराया' देखने पर 'दूसरा' देखने पर। इसीलिए तो तुमने मंत्र दिया माँ, कोई 'पराया' नहीं, संसार तुम्हारा है। इसे 'अपना' बनाना सीखो।

यही सीखना तो जीवन की साधना है। तभी तो साधक-शिरोमणि अवतारवरिष्ठ ठाकुर ने कहा, 'जब तक जीऊँ तब तक सीखूँ।' सीखने का यह क्रम मुक्तिपर्यन्त चलाना होगा।

ज्ञान की अधिष्ठात्री सरस्वती! तुम इस बार आई हो सिखाने के लिये सार-दा होकर। जीवन भर सबको अहैतुक कृपापूर्वक सार ही देती रही। इस निस्सार संसार में रहकर भी 'सार' कैसे पाया जाय, सारे जीवन तुमने यही तो दिखाया और सिखाया माँ! सुपुत्री होने का 'सार' क्या है? कोई तुमसे सीखे। सहधर्मिणी और गृहिणी का 'सार' तुम दक्षिणेश्वर में दिखा गई। नववधुत्व का 'सार' तुम कामारपुकुर की लीला में दिखा गई। मातृत्व के 'सार' की तो तुम मूर्तरूप ही रही। संघ-माता के रूप में करुणा विगलित हो अनधिकारी सन्तानों को शरण में ले उन्हें अधिकारी बना, गुरु तथा गुरु-कृपा का 'सार' तुम्हीं दिखा गई। अनासक्ति, वैराग्य, विवेक और संन्यास जीवन का 'सार' संसार तुमसे सीखे। जननी! संसार का 'सार' ही तो तुम थी।

इसलिए माँ यदि तुमको अपना बना लें तो फिर हमारे लिये कोई पराया नहीं रह जायेगा, नहीं रह पायेगा, क्योंकि तुम्हीं तो संसार का 'सार' हो। तुमने ही तो विश्व-ब्रह्माण्ड पसारा है। तुम्हीं तो इसमें अनुस्यूत और ओतप्रोत हो। कोई इसे तुम्हारी माया कहता है, तो कोई लीला। किन्तु हो तो माँ तुम्ही। तुम्हारे अतिरिक्त तो सभी 'रिक्त' हैं, खाली हैं। जो 'है' अस्ति वह तो तुम्हीं हो। तुम्हीं तो भासमान हो रही हो। भाति और प्रेमस्वरूपिणी तुम्हीं तो एकमात्र 'प्रिय' हो। तुमसे विमुख होना ही तो पराया होना है। माँ! तुमसे विमुख होने पर ही तो जगत् पराया लगता है और 'पराया' लगते ही दोष दिखते हैं दूसरों के। अपनी आँखों में समाया मूसल भी नहीं दीख पड़ता, पर दूसरों की आँखों का तिनका भी मूसल दिखने लगता है। इसीलिए तो तुमने चेतावनी दी – 'मनुष्य पहले अपने मन को दूषित करता है तब दूसरों के दोष देख पाता है।' दोष देखने के दोष से दूषित मन लिये हम जलते रहते हैं। इस दाह से बचने का उपाय भी तो तुमने बता दिया। माँ करुणामयी, कैसी तुम्हारी करुणा! 'विष से विष कटता है।' दोष देखना ही है तो अपने दोष देखो। कैसा अद्‌भुत रसायन! दोष देखने की दुष्टवृत्ति जब तक दूसरों के पीछे लगी रही तब तक इसने मन में दावानल जला रखा था। इसकी दाह से दिन-रात अशान्ति! किन्तु ज्यों ही इसे अपने पीछे लगाया, अपना दोष देखने लगा कि अद्‌भुत परिवर्तन! उसी क्षण से हृदय में धधकने वाला यह दावानल शान्त होने लगता है। दाह मिटने लगती है और आश्चर्य! अपने दोष देखते-देखते हमारा मन निर्दोष और निर्मल हो उठता है। कैसा अद्‌भुत रसायन तुमने दिया है, माँ!

"मैं सत् की भी माँ हूँ, असत् की भी माँ हूँ। मेरे बच्चे यदि धूल और कीचड़ में सन कर आयें तो धूल झाड़कर मुझे ही तो उन्हें गोद में लेना पड़ेगा।"

जगज्जननी! इससे बड़ी कृपा, ऐसी अपार करुणा मनुष्य क्या, विश्व-ब्रह्माण्ड के इतिहास में भी कहीं खोजे न मिलेगी! न भूतो न भविष्यति!

तुम तो हमारी ही माँ हो! तुमसे भला कभी पराया हुआ जा सकता है? तुमसे विमुख होकर हम कब तक रह सकते हैं! तुम्हारे बिना तो हमारा अस्तित्व ही नहीं रह सकता माँ!

किन्तु हमने अपने आपको असत् की, अज्ञान की धूल में इतना सान लिया है कि हम तुम्हें भूल बैठे हैं। तुमसे विमुख हो गये हैं और इसीलिए तो संसार-नरक की ज्वाला में जल रहे हैं। दु:ख और अशान्ति से छटपटा रहे हैं। इससे छूटने का क्या कोई उपाय नहीं है माँ? साधन-चतुष्टय, विवेक, वैराग्य, ज्ञान, कठोर, तप आदि की बातें तो बहुत सुनी हैं। पर माँ, उनकी ओर देखते ही लगता है, 'बौने होकर चाँद को पकड़ने की चाह'। क्या हम चाँद को पकड़ पायेंगे? यह सोचकर ही मन बैठ जाता है। निराशा घेर लेती है। लगता है ज्ञान वैराग्य के अधिकारियों की तो जाति ही अलग होती है।

तब क्या हमारा कुछ न होगा? क्या हम संसार-पंक में ही पड़े रहेंगे! माँ, हम तो तुम्हारी अति सामान्य सन्तान हैं, इसीलिए तो हमारे मन में ऐसा सन्देह आता है। किन्तु ममतामयी तुम तो सर्वज्ञा त्रिकालदर्शिनी हो, इसीलिए तो इतना ठोक बजाकर इतनी परीक्षा लेकर तब चरणाश्रय देने वाले ठाकुर से भी हम सब निरीह अनधिकारी संतानों के लिये यह वचन ले ही लिया – "तुम्हारे (ठाकुर) पास जो आयेगा, उसका यह अन्तिम जन्म होगा। और उसे तुम्हें दर्शन देना होगा।" और ठाकुर को यह मानना पड़ा कि तुम्हारी प्रत्येक सन्तान को फिर चाहे अन्त समय में ही क्यों न हो, वे दर्शन देंगे तथा हाथ पकड़कर अपने धाम में ले जायेंगे। जननी, तुम्हारी करुणा ने ही तो अवतारवरिष्ठ से यह करा लिया।

हमारे लिये पथ कितना सहज कर दिया, माँ! तुमने कहा, "मन में सोचना हमारा और कोई हो न हो, एक माँ अवश्य है।" भवतारिणी, क्या इससे भी सहज कोई पथ हो सकता है? कल्पना स्वयं उस पथ की कल्पना नहीं कर सकती।

साठ-पैंसठ वर्ष इस धरा-धाम में लीला कर तुम हमारी स्थूल आँखों से ओझल हो गई। तब क्या तुम अदृश्य और अज्ञेय हो गई? निष्क्रिय, निर्गुण, निरपेक्ष, उदासीन! नहीं,

नहीं माँ, ऐसा नहीं हो सकता। फिर तुम आई ही क्यों थीं?

स्वयं ठाकुर ने ही तो हमें तुम्हारे आने का प्रयोजन बताया है – "वह सारदा है, सरस्वती है, ज्ञान देने आई है। वह ज्ञानदायिनी है। महा बुद्धिमती। वह क्या कोई ऐसी-वैसी है। वह मेरी शक्ति है।"

ज्ञानदान ! यही तो तुम्हारे आने का प्रयोजन है। यही युग की अनिवार्य आवश्यकता है। विश्व-ब्रह्माण्ड के रहस्यों को भेदनेवाला मनुष्य अपने सम्बन्ध में कितना 'अज्ञ' है ! बाह्य प्रकृति को जीतने के नाम पर अपने ही बनाये बन्धनों से वह किस प्रकार बँध आया है; अपने ही बुने जाल में वह कैसा फँस गया है। अपनी उत्पन्न की हुई शक्ति के द्वारा अपना ही विनाश करने पर तुला हुआ है। मानव जाति को इस आत्मघात से तुम्हारे दिये गये ज्ञान के अतिरिक्त और कोई नहीं बचा सकता है।

ज्ञान के क्षेत्र में भी तुम ज्ञान का 'सार' दे गई। तुमने कहा, "भगवान इसी मनुष्य शरीर के भीतर हैं। मनुष्य उनको न जानने के कारण ही भटकता हुआ मर रहा है। भगवान ही सत्य हैं और सब मिथ्या।"

यह वह ज्ञान है जो आधुनिक मानव को सामूहिक आत्मघात से बचा सकता है। आधुनिक मानव की कठिनाई यह है कि वह मिथ्या को ही सत्य समझे बैठा है। भूल से वह यह समझ बैठा है कि उसके दु:ख का कारण उसका पड़ोसी है; 'दूसरों' के कारण ही वह दु:खी है, दरिद्र है, पीड़ित है। और उसका दूसरा समाधान उसने ढूँढा – पड़ोसी का सिर फोड़ देना। दूसरों को मिटा देना। तभी सुखी और सुरक्षित रहा जा सकता है। अत: अपनी सुरक्षा के लिये तमन्चे से शुरु कर एटम तथा हाइट्रोजन बम तक बना रखा है। नाखून काटने की नहरनी से जिस मनुष्य को अनायास ही मारा जा सकता है उसी मनुष्य से अपनी रक्षा करने के लिये उसने एटम और हाइड्रोजन बम बनाया है। और यह आदमी हर दूसरे दिन अपने पड़ोसी को धमकी देता है। याद रखना, मेरे पास एटम और हाइड्रोजन बम है, तेरे सिर पर फोड़ दूँगा। पर वह एक क्षण के लिये भी नहीं सोचता कि भला आदमी, जिसके सिर पर तू एटम बम फोड़ना चाहता है उसका सिर तेरे सिर से दूर नहीं है। तेरा एटम बम पड़ोसी के साथ-साथ तेरा सिर भी तो फोड़ देगा। दूसरों को मिटाने के साथ तू भी तो मिट जायेगा।

आधुनिक मानव को यहाँ रुककर एक बात समझनी होगी। यह ठीक है कि आज मनुष्य दु:खी, दरिद्र और पीड़ित है। किन्तु उसकी पीड़ा और दारिद्र्य का कारण उसका 'पड़ोसी' या 'दूसरा' नहीं है। कारण है उसका अपना यह 'अज्ञान' कि उसने 'असत्' को 'सत्' समझ लिया है। उसे यह जानना और अनुभव करना होगा कि भगवान ही 'सत्' हैं और सब 'असत्'। भगवान को न जानने के कारण ही वह दु:ख-कष्ट पा रहा है तथा भटकता फिर रहा है। अत: यह बात ठीक-ठीक समझ लेनी होगी कि भगवान को जाने बिना दु:ख-कष्ट से मुक्ति नहीं मिल सकती है। इसीलिए जैसे भी हो भगवान को जानना होगा। उनसे घनिष्ट परिचय एवं सम्बन्ध जोड़ना होगा।

उसे खोजने कहाँ जायँ? माँ ने दिखा दिया है कि भगवान इसी शरीर के भीतर विराजमान हैं। अत: पहली बात जो स्मरण रखनी है, वह यह कि यह शरीर भगवान का मन्दिर है, भोग-विलास का रंगमहल नहीं। इसलिये सजग सावधान रहकर सतत यह चेष्टा करनी होगी जिससे यह मन्दिर किसी तरह अशुद्ध और अपवित्र न होने पाये।

भगवान भीतर हैं। हमारा अंत:करण इस देह-मन्दिर का गर्भगृह है। वहीं वे विराजमान हैं। इसलिए हमें खूब सावधान होना होगा कि जिससे भगवान का यह सिंहासन अशुद्ध न हो जाय, दिन-रात सावधान रहकर इसकी पवित्रता की रक्षा करनी होगी। शुद्ध अंत:करण में ही भगवान से हमारी भेंट होगी, परिचय होगा और हम उनके हो जायेंगे। एक बार 'उनका' हो जाने पर अपना कुछ नहीं रहता। फिर 'मैं' नहीं 'तू' हो जाता है।

जब तक यह न हो तब तक क्या करें? साधना – शरीर को साधना होगा, मन को साधना होगा, बुद्धि को साधना होगा। यह साधना कैसे करनी होगी वह भी तो माँ दिखा गई। जो कर्त्तव्य हमारे हिस्से में आया है उसका ठीक-ठीक पालन करना। सतत कर्मठता ! आलस्य की छाया तक नहीं ! और वह भी निष्काम।

निष्काम कर्म करते हुए भी एक कामना मन में सतत जगाये रखनी होगी – भगवान के प्रति प्रेम की कामना। तभी तो माँ ने कहा है, "सबके प्रति कर्त्तव्य का पालन तो करना किन्तु, प्रेम करना केवल भगवान से।"

और जिसके प्रति हमारे मन में प्रेम होता है हम उसके लिये क्या नहीं करते ! अपने प्रियतम को सुखी करने की कितनी ललक हमारे मन में होती है ! उनके सुख में ही हमारा सुख है। सभी कुछ 'प्रभुप्रीत्यर्थ' ही तो करना है। नर रूप में विराजमान इस प्रभु की सेवा के लिये ही तो यह आयोजन, ये प्रतिष्ठान, यह सारदा पीठ, यह विद्या मन्दिर तथा और भी न जाने क्या-क्या बना है?

माँ, प्रभु की पूजा के ये नवविधान भी तो तुम्ही दे गई। जब सन्देह उठा तब असन्दिग्ध रूप से तुमने कहा, "नरेन जो कर रहा है, ठीक है। यह 'उनकी' ही इच्छा है, उनका ही काम है।"

(शेष अगले पृष्ठ पर)

लोक संस्कृति में माँ सारदा

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सारदे त्वामहं वन्दे, सारतत्त्वप्रदायिनी ।
लोकवत् वर्तयन् लोके, दिव्यलीलाकारिणि । ।

परम प्रेममयी माँ सारदा ने जन-साधारण के लिए सर्वलोकोपकारी स्व स्नेह-सुरसरि को प्रवाहित करते हुए समस्त प्रणियों पर निष्कारण करुणा प्रकट करते हुए कहा था – **"याद रखो कि तुम्हारी एक माँ है। तुम लोग मेरे पास किसी भी समय आ सकते हो। मैं तुम्हें कभी अस्वीकार नहीं करूँगी। तुम मेरे अपने हो।"** "माँ" की वह वाणी, आज भी उनके सन्तानों के हृदय में गूँज रही है। "माँ" की वह पुकार उनके पुत्रों को उनके उच्छलित प्रेम-पारावार में आज भी निमग्न कर रहा है। उस स्निग्ध प्रेमपूर्ण कोमल हृदय की पुकार आज भी उनके पुत्रों को उनकी ओर बरबस खींचकर, उनकी ओर अकारण आकर्षित कर उनके कृपांक में सुधापान करने को उद्वेलित कर रहा है। उस प्रेम की उद्भावना, उस निष्कारण कृपा-कटाक्ष की उद्दीपना ही उनकी सन्ततियों का संबल है, जो उनके बालकों को घोर निराशा के क्षणों में आशा का संचार कर उच्चतर जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करती है।

श्रीमाँ सारदा के जीवन के कई पक्ष हैं, यद्यपि वे स्वयं निष्पक्ष थीं। उनमें से मात्र एक पक्ष का हम संक्षिप्त विवेचन करेंगे। वह पक्ष है – 'लोक संस्कृति में माँ सारदा'।

'श्रीमाँ एक ग्राम्य बालिका थीं। गाँव में ही जन्म लीं, गाँव के ही जन-साधारण के बीच पली-बढ़ीं। बाद में कलकत्ता जैसे शहर में रहीं। अनेकों तीर्थाटन किये। भारत के महत्त्वपूर्ण विभिन्न भौतिकता से विकसित नगरों में उनका अस्थायी निवास रहा। अनेकों सुयोग्य सुशिक्षित भक्तों एवं त्यागी सन्तानों की पथ-प्रदर्शिका थीं। लेकिन सामान्य जन-मानस के प्रति उनकी प्रेम-निर्झरिणी सदैव अबाध गति से प्रवहमान रही। ग्रामीण संस्कृति से वे कभी भी विमुख नहीं हुईं। गाँव के आचार-विचार, ग्रामिण परिवेश की सुन्दरता, पेड़-पौधे, नदी, पशु-पक्षी, कृषकों के कार्य, ग्राम्य लोगों की सरलता, निश्छलता ने सदैव माँ को आकर्षित किया। इसीलिए वे कलकत्ते की अपेक्षा जयरामवाटी में आकर स्वतन्त्रता एवं ताजगी का अनुभव करती थीं। इस विषय के प्रतिपादन के पूर्व हम लोक संस्कृति का संक्षिप्त परिचय ज्ञात कर लें।

लोक-संस्कृति : एक दृष्टि में

हिन्दी विश्वकोष के दशवें खण्ड में त्रिलोचन पाण्डेय जी कहते हैं – "लोक संस्कृति के दो स्पष्ट धरातल हैं –

१. विशिष्ट रूप – इसमें अधिकांश शिक्षित वर्ग की उपलब्धियाँ, साहित्यिक रचनायें तथा सामाजिक, धार्मिक आदि विशेषतायें आती हैं।

२. सामान्य रूप – यह लोक संस्कृति का धरातल है। इसमें जन-साधारण की परम्परायें, रीति-रिवाज, प्रथायें, लोक विश्वास आदि समाविष्ट हैं। संस्कृति के ये दोनों रूप अत्यन्त प्राचीन काल से ही उभरते हुये एक दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं।"

संस्कृति का दूसरा 'सामान्य रूप' ही हमारा प्रतिपाद्य विषय है। वृहत् हिन्दी कोश में 'लोक' शब्द के कई अर्थ हैं, जिसमें से दो अर्थ हैं – मानव जाति और सांसारिक व्यवहार तथा 'संस्कृति' का अर्थ है – आचरणगत परम्परा। संस्कृत-हिन्दी कोषकार वामन शिवराम आप्टे जी ने 'लोक' का अर्थ – मानव का सामान्य जीवन, सामान्य व्यवहार और 'संस्कृति' का अर्थ – परिष्कार, पूर्णता और मनोविकास किया है। इस प्रकार 'लोक-संस्कृति' का तात्पर्य है – वह मानवीय संस्कृति जो जन-सामान्य की जीवन-धूरी हो। वह परम्परा जो जन-साधारण के आचरण में हो। वह लोक प्रत्यय, लोक प्रथा जो सामान्य व्यक्तियों के आचार-विचार में अनुस्यूत हो, लोक पुरुषों के द्वारा, उनके आचरण द्वारा संरक्षित हो। वह परम्परा, लोकाचार जिसके द्वारा जन-सामान्य का जीवन परिष्कृत हो, सुसंस्कृत हो, उनका मनोविकास हो और उनके जीवन को पूर्णता प्रदान करे, उसे 'लोक संस्कृति' कह सकते हैं।

हिन्दी विश्वकोष के दशवें खण्ड में श्री चन्द्रशेखर मिश्र जी लिखते हैं – "यदि कहीं की समूची संस्कृति का अध्ययन करना हो, तो वहाँ के लोकसाहित्य का विशेष

पिछले पृष्ठ का शेषांश

ये सभी प्रतिष्ठान हमारे पूजास्थल हैं। इसका प्रत्येक घटक हमारा उपास्य है। मनुष्य के अन्त:करण में विराजमान भगवान को जानने में उसकी सहायता करना हमारी सेवा है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहायक होना हमारा धर्म है। इस सेवा धर्म में अपना तन-मन-धन सब कुछ सतत समर्पित करना हमारी उपासना है। व्यक्ति को इस उपासना का अवसर देना यही इस प्रतिष्ठान का प्रयोजन है। ज्ञानदायिनी हम सबके अन्त:करण में ज्ञान के रूप में उद्भासित हों यही उनके चरणारविन्दों में सतत प्रार्थना है। ❑❑❑

अवलोकन करना होगा। यह लिपिबद्ध कम और मौखिक ज्यादा होता है।''

'लोक संस्कृति' के स्रोत हैं – लोक-गीत, लोक-कथाएँ, लोकवृत्ति, लोकाचार, लोक परम्परायें, जन-साधारण में प्रथित किंवदन्तियाँ, कहावतें आदि। प्राचीन काल से इन्हीं प्रमुख तत्त्वों के कारण 'लोक-संस्कृति' की सरिता अद्यावधि सतत प्रवहमान है।

श्रीमाँ का ग्राम्य-आकर्षण

शक्तिपीठ जयरामवाटी की प्राकृतिक छटा अत्यन्त रमणीय है। चतुर्दिक खुले मैदान, आमोदर नदी एवं उपजाऊँ भूमि है, जिससे वहाँ का क्षेत्र हमेशा हरा-भरा रहता है। मौसमी फसल, ईख, धान, गेहूँ, दाल आदि तथा विभिन्न प्रकार के शाक-सब्जियों से सर्वदा वहाँ हरियाली बनी रहती है। धरा पर वट, आम, पीपल, आदि विभिन्न वृक्षों से प्रकृति सदा स्व हरीतिमा की सुषमा बिखेरती रहती है। ग्राम के सरल, निष्कपट लोगों का अकृत्रिम व्यवहार सदैव माँ के आकर्षण का केन्द्र रहा है।

माँ की विस्तृत जीवनी 'श्रीमाँ सारदा देवी' के प्रणेता स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज लिखते हैं – "छोटे से गाँव जयरामवाटी के प्रति माँ का एक सहज आकर्षण था। एक बार जब वे कलकत्ता जाने को तैयार हुईं, तो उनकी चाची ने कहा, 'सारदा फिर आना।' श्रीमाँ ने आग्रह पूर्वक कहा, 'अवश्य आऊँगी ' और उसी बात पर जोर देने के लिए वे बार-बार कमरे की जमीन को हाथ से छुकर सिर से लगाती हुई बोलीं – '**जननी जन्मभूमिश्च स्वार्गादपि गरीयसी**।' गाँव के प्रत्येक व्यक्ति के साथ उनका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध था – वह चाहे कितना ही छोटा या बड़ा अथवा समाज के जिस किसी वर्ग का भी क्यों न हो। दूसरे गाँव वाले भी इससे वंचित नहीं होते थे। विजया दशमी के दिन जब सभी उन्हें प्रणाम करने के बाद आशीर्वाद लेकर लौटते थे, उस समय वे दूसरे गाँव के प्रतिमा-शिल्पी 'कुंज काका' की खोज अवश्य करती थीं तथा उसे बुलाकर उसका आदर करना नहीं भूलती थीं। '' (वही, पृष्ठ-५६३)

एक बार कोआलपाड़ा में माँ केदार बाबू के घर घूमने के लिये गईं। प्रकाश महाराज ने आते समय माँ को पालकी में बैठने का अनुरोध किया। माँ उस समय तो खिन्न मन से पालकी में बैठ गयीं, लेकिन आश्रम में आकर वे डाँटती हुई कहने लगीं – "यह हमारा गाँव है। कोआलपाड़ा है मेरा बैठकखाना। ये सभी लड़के हमारे अपने आदमी हैं। मैं इधर आकर जरा स्वतन्त्रता से घूमूँगी-फिरूँगी। कलकत्ते से आने पर मानो जान-में-जान आ जाती है। तुम सब तो मुझे वहाँ पिंजड़े में बन्द करके रखते हो, मुझे सदा संकुचित होकर रहना पड़ता है। यहाँ भी यदि तुम्हारे कहने के अनुसार मुझे पैर बढ़ाना पड़े, तो वह मुझसे नहीं होगा, शरत् को लिख दो।'' (वही, पृष्ठ ३२६-३२७)। उपरोक्त दृष्टान्त माँ के लोक-जीवन के प्रति विशेष प्रेम को दर्शाते हैं।

श्रीमाँ के द्वारा लोक-संवेदना का अनुभव

दैवी अवतार समाज को ईश्वरप्राप्ति में बाधक प्राचीन रूढ़ियों से मुक्ति दिलाने एवं उन्हें सत्पथ दिखाकर परमात्मा की ओर अग्रसर करते हैं। लेकिन मानव हितकारी लोकाचारों की कभी अवहेलना नहीं करते। उनकी मर्यादा और प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखते हैं। वे लोक-संवेदना से कभी पृथक नहीं होते। मानवीय संवेदना उनके जीवन से सम्पृक्त रहती है। मनुष्य की समस्यायें, उनकी पीड़ा, उनके दैवी व्यक्तित्व को भी व्यथित करते हैं। लोकवृत्ति एवं लोकव्यथा उन्हें विचलित तो नहीं, लेकिन उनके हृदय में कारुणिकता, कसकता पैदा कर देती है। बृहस्पतिवार के दिन जयरामवाटी से दक्षिणेश्वर जाने के कारण ठाकुर का हाथ टूट गया था। इसीलिये श्रीरामकृष्ण ने माँ के अशुभ यात्रा में आने पर उनकी यात्रा बदलवायी। श्रीमाँ नेड़ा की मृत्यु के शोक से सन्तप्त हुईं। भाई अभय और मातृशोक ने भी उनके हृदय को व्यथित किया।

श्रीमाँ के लोक-संवेदना से व्यथित होने का बड़ा ही मार्मिक चित्रण करते हुए स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज लिखते हैं – "नानी के सज्ञान दिव्य-धाम पधारने पर श्रीमाँ संसारी लोगों की ही भाँति फूट-फूटकर रोने लगीं। आज वे मातृहीना हैं। केवल इतना ही नहीं, वास्तव में अब उनका कोई भी ऐसा नहीं रहा, जिसके पास स्नेह का तकाजा लेकर वे खड़ी हो सकें। पिता, पति, चाचा, माता एक-एक करके सभी ने विदा ले ली। इसी बीच अपने नितान्त भरोसा स्थल विश्वासपात्र स्वामी योगानन्द को भी वे खो चुकी थीं। स्नेहास्पद भाई अभय भी कूच कर चुके थे। इस समय बड़ी भारी गृहस्थी का उत्तरदायित्व उनके ही ऊपर था। श्रीमाँ की तत्कालीन व्यथा लिखकर समझाई नहीं जा सकती।'' (वही, पृष्ठ २६३-२६४)

लोक में अलौकिक दृष्टि

'लोक संस्कृति' तथा 'ललित निबन्ध' के विख्यात् विद्वान् साहित्यकार डॉ. विद्यानिवास मिश्र जी अपने 'भारत और भारतीय संस्कृति' नामक लेख में लिखते हैं – "भारतीय संस्कृति किसी को निरपेक्ष रूप से न तो शुभ मानती है, न सुन्दर। वह परिस्थितियों की उपेक्षा से ही शुभ-अशुभ का निर्धारण करती है। इसीलिए यहाँ कुछ भी हेय नहीं है, यहाँ तक की अपरूप दिखने वाला भी संसार हेय नहीं है। प्रत्येक वस्तु उपादेय है। यदि कुछ हेय है, तो हेय देखने वाली दृष्टि है।''

लोक-जीवन में कौए की बोली को शुभ-अशुभ का द्योतक माना गया है। कौए की असमय ध्वनि अपशकुन का सूचक है। लेकिन साहित्यकार विद्यापति ने उसे दूत बना कर जन-मानस को प्रफुल्लित किया है। उनके काव्य में एक उद्धरण है –

मोरा रे अंगनवा चनन के रे गछिया
ताहि चढ़ि कुररये काग रे।
सोने चोंच मढ़वाइब वायस
जऊँ पिय आउत आज रे।।

कौवे के बोलने पर एक नारी, उसे कहती है – 'हे कौवे, यदि आज मेरे पति आयेंगे तो मैं तेरी चोंच को सोने से मढ़वा दूँगी।' किन्तु माँ ने उसमें पुत्र का दर्शन कर बालक की तोतली वाणी का आनन्द लिया। बिल्ली का रास्ता काटना अशुभ होता है, लेकिन माँ ने उसमें निजस्वरूप का दिग्दर्शन कराकर उसे शुभ में परिणत किया। उसकी सभी तरह की चुहलबाजी को अबोध बालिका की तरह सहन किया। बछड़े की पुकार में पुत्र-क्रन्दन सुनीं। इस प्रकार, माँ ने अशुभ लोकप्रथा में भी लोक-मंगल का समावेश किया। लोक प्रथित अशुभ को शुभ में परिणत कर उसे सम्पूर्णता प्रदान कीं एवं अलौकिकता का परिचय दी।

लोक में चन्द्रमा के साथ लौकिक सम्बन्ध प्रथित है। चन्द्रमा बच्चों के मामा हैं। शास्त्र में चन्द्रमा की देवता के रूप में पूजा की जाती है। चन्द्रमा अपनी स्निग्ध-प्रोज्ज्वल किरणों के कारण संसार में प्रिय हैं। बालकों के रुदन को शान्त करने के लिये पूर्ण चन्द्रमा की जल में कल्लोल-किलकारियाँ भी चन्द्रमा के सर्वप्रिय स्वरूप को प्रकाशित करती हैं। एक लोक गीत है जिसमें माँ यशोदाजी श्रीकृष्ण के रुदन को बन्द करने के लिए चन्द्रमा का आह्वान कर रही हैं –

यशोदा जी कृष्ण के खेलावेली।
चन्दा के बोलावेली हे चन्दा !
चली आव हमरा अटरिया
कन्हैया मोरा खेलिहन हे।।
कंचन थार मँगाइल।
जलवा भराइल हे रामा !
ओही में चन्दा मामा अइले,
कन्हैया जी खेले लगलन हे !

चन्द्रमा अपनी शुभ्र ज्योत्स्ना हेतु जगत में सौन्दर्य का दृष्टान्तरूप है, जैसे – चन्द्रमुखी, चन्द्रवदना, आदि। चन्द्रमा के गुणों के कारण ही भगवान शिव ने अपने भाल पर उन्हें सुशोभित किया है। चन्द्रमा में काला धब्बा उनके गौर मुख में बिंदिया जैसे सुशोभित है।

अब श्रीमाँ सारदा देवी के जीवन में चन्द्रमा की भूमिका क्या है? उनकी क्या दृष्टि है? एक जगह माँ स्वयं भगवान से प्रार्थना करती हैं – "चन्द्रमा में भी कलंक है, पर मेरे मन में कोई दाग न रहे।" किन्तु पुनः दूसरे जगह कहती हैं – "मैं दक्षिणेश्वर में रात को तीन बजे निस्तब्ध चाँदनी रात में उठकर नौबतखाने की सीढ़ी के बगल में बैठकर जप करने बैठती। चाँदनी रात में चन्द्रमा की ओर देखते हुई हाथ जोड़कर कहती, – "अपनी ज्योत्सना की भाँति मेरा अत:करण निर्मल कर दो।" चन्द्रमा में भले ही दाग हो, लेकिन चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्सना निष्कलंक है। यह है माँ की आलौकिक दृष्टि !

श्रीमाँ के जीवन में शास्त्र-मर्म और लोकाचार-संगम

तैत्तिरीयोपनिषद् में आचार्य अपने स्नातक शिष्यों को अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं व्यावहारिक, लोकोपयोगी उपदेश देते हैं, जो आज भी सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के दीक्षांत महोत्सव में विद्यार्थियों को कुलाधिपति द्वारा दिया जाता है – **सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। देव-पितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।** – 'सत्य बोलो। धर्माचरण करो। स्वाध्याय में, देव-पितृ कार्यों में, प्रमाद मत करो। माता-पिता-आचार्य और अतिथि को देव-बुद्धि से सम्मान करो, उनकी पूजा करो।'

जन-साधारण भले ही शास्त्र से अनभिज्ञ रहा हो, लेकिन शास्त्रों के मर्म को वह अपने जीवन में उतारने में सफल रहा है। ग्रामीण लोग उपनिषद् की ऋचाओं का पाठ भले ही नहीं करते, किन्तु उपनिषद् द्वारा उपदेशित सार-तत्त्व उनके जीवन में दृष्टिगोचर होता है। यह लोक वैशिष्ट्य है। डॉ. विद्यानिवास मिश्र जी अपने 'भारत और भारतीय संस्कृति' नामक व्याख्यान में कहते हैं – "शास्त्र लोकाचार की उपेक्षा कर प्रतिष्ठित नहीं होता और लोक, शास्त्र की मर्यादा खोकर प्रतिष्ठित नहीं होता। शास्त्र, लोक में छनकर आता है और लोक, शास्त्र द्वारा स्वीकृत होकर शास्त्रीय पद्धति का अंग बन जाता है।"

श्रीमाँ सारदा देवी के लोक-जीवन में लोक और शास्त्र दोनों का समन्वय है। उनका जीवन शास्त्र-मर्म और लोक-कर्म, उपनिषद्-तत्त्व और लोकाचार दोनों का संगम है। सत्य, धर्माचरण, देव-पूजन, ईश्वर-आराधना, उनके जीवन के प्राण थे। माता-पिता-कुलगुरु की सेवा उनका सहज स्वभाव था। वे अपने कुलगुरु हल्दीपुकूर के भट्टाचार्य को पूजा के बाद स्वयं प्रणाम करतीं और उनका यथोचित सम्मान करती थीं। अतिथि तो सचमुच ही उनके विशेष सेव्य थे। उनके द्वारा अतिथियों की विभिन्न प्रकार की सेवा एवं संतानवत् स्नेह ने उन लोगों को आजीवन प्रेम-पाश में आबद्ध कर दिया। जिस दिव्य प्रेम को न पाकर ही उनकी संततियाँ परवर्ती काल में तड़पती रहीं और उस प्रेम की उद्भावना से स्वयं को पुनर्जीवित करती रहीं। वे स्वयं भक्तों के लिये

भोजन बनातीं, उनका जूठन साफ करतीं, बर्तन धोतीं। उनके लिये घर-घर से चाय के लिये दूध माँगकर लातीं आदि। वे भक्तों की स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक और जीवन में आवश्यक भौतिक सुखो से लेकर आध्यात्मिक ज्ञान तक प्रदान कर शास्त्र और लोकाचार के संगम का प्रोज्ज्वल दृष्टान्त बनीं।

श्रीमाँ का लोकव्यवहार

श्रीमाँ शक्ति की अवतार थीं। एक आध्यात्मिक सद्गुरु थीं। बाल्यावस्था से ही अष्टदेवियाँ उनकी सखियाँ बनकर स्नानार्थ उनकी सहचारिणी रहीं। दक्षिणेश्वर जाते समय मार्ग में बीमार पड़ने पर स्वयं दक्षिणेश्वरी भवतारिणी जगदम्बा ने उनकी बहन के रूप में परिचय देकर उनकी सेवा की। जयंरामवाटी में अनेकों सेवक-सेविकाओं के रहते हुये भी वे यथोचित लोक-कर्म से, जागतिक-वृत्ति से कभी विमुख नहीं हुईं। नौबतखाने में रहते समय माँ की दिनचर्या का वर्णन करते हुये योगीन माँ कहती हैं – "श्रीमाँ चार बजे प्रात:काल शौच-स्नानादि कर ध्यान में बैठतीं, क्योंकि ध्यान करने की ठाकुर की आज्ञा थी। इसके पश्चात् अन्य कार्यों को पूरा कर वे पूजा के लिए बैठतीं। पूजा, ध्यान और जप में लगभग डेढ़ घंटा समय लगता था। इसके पश्चात् सीढ़ी के नीचे रसोई पकाने के लिए बैठतीं। रसोई हो जाने पर जिस दिन मौका मिलता, उस दिन अपने हाथों से ठाकुर को स्नान के लिए तेल मालिश कर देतीं। साढ़े दस, ग्यारह बजे के भीतर ठाकुर भोजन करते थे। जब वे स्नान करने जाते, तब श्रीमाँ जल्दी उनके लिए पान ठीक करतीं और नजर रखतीं कि वे स्नान करके लौटे या नहीं। उनके अपने कमरे में लौटते ही माँ वहाँ पीने का जल रख देतीं; उसके उपरान्त थाली परोसकर सामने लाकर रख देतीं। जब ठाकुर भोजन करने लगते, तब श्रीमाँ उनसे अनेक प्रकार की बातें करतीं, जिससे भोजन करते समय भावसमाधि उपस्थित हो उनके भोजन में बाधा न डाले। अकेले श्रीमाँ ही भोजन करते समय ठाकुर की भावसमाधि को रोक सकती थीं; दूसरे किसी से यह सम्भव नहीं था। ठाकुर के भोजन करने के पश्चात् श्रीमाँ अपने मुँह में थोड़ा कुछ डालकर पानी पी लेतीं। फिर पान लगाने बैठतीं। पान लग जाने पर गुनगुनाकर गातीं, बड़ी सावधानी से, ताकि कोई सुन न ले। इसके बाद जब मिल का एक बजे का भोंपू बजता, तब श्रीमाँ खाने को बैठतीं इस प्रकार डेढ़ या दो बजे के पूर्व कभी उनका भोजन नहीं होता था। भोजनोपरान्त नाममात्र के लिए विश्राम करतीं और तीन बजे के लगभग सीढ़ी की धूप में अपने केश सुखातीं। फिर रखे हुए पानी से जरा हाथ-मुँह धो लेतीं। संध्या होने पर दिया-बत्ती जला और देवताओं को धूप बत्ती दे वे ध्यान में बैठ जातीं। इसके पश्चात रात का भोजन बनातीं। सबको खिला-पिलाकर तब स्वयं भोजन करतीं। फिर कुछ विश्राम करके सोने को जातीं।"

स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज श्रीमाँ के जयरामवाटी के कार्यों का विवरण प्रस्तुत करते हैं – "माँ के काम-काज का अन्त न था। जयरामवाटी में भक्तों की देख-भाल करना, सबेरे दो घंटे तक तरकारी काटना, भंडार घर से सामान निकाल देना, पूजा का आयोजन करना, स्वयं पूजा करना, पूजा के बाद प्रसाद बाँटना, कम-से-कम सौ बीड़े पान लगाना, शाम को अपने हाथों आटा गूँथकर रोटी, पूरी आदि बनाना, दूध औंटना, लालटेन साफ करना, आदि काम वे स्वयं प्रेम के साथ लगातार करती थी। घर में औरों के रहने पर भी लगता था, जैसे सभी काम श्रीमाँ के ही हों।"

भगवती के द्वारा लोकाचार और लोकनीति का पालन

लोक-कर्म के साथ ही स्थानीय लोकाचारों का अनुपालन भी उनका सहज स्वभाव था, जैसे झाड़ू को भी सम्मान देना, अपव्ययन न होने देना, यात्रा के समय ग्राम देवता, यात्रा सिद्धिराय को, जन्मभूमि को प्रणाम करना, सभी शुभयात्रा के

सारदा-स्तुतिः

रवीन्द्रनाथ गुरुः

या देवी प्रददाति सात्त्विकी मतिं या नीति-रत्नाकरी
या सौहार्द-रसान्विताऽतिविमला या शान्ति-वर्षाकरी।
या माताऽघतमोविनाश-कुशला पायाद्धि सा सारदा
गङ्गावद् गणनाथवद् गगनवत् श्रीरामकृष्ण-प्रिया ।।

– जो देवी सात्त्विक बुद्धि देनेवाली, जो नीतिरत्न की आगार, सौहार्द-रस से युक्त तथा अतीव पवित्र हैं; जो शान्ति की वर्षा करनेवाली, जो पाप-अन्धकार-नाशिनी श्रीरामकृष्ण की प्राण-प्रिया हैं, वे ही माँ श्री सारदा देवी गंगा की तरह, गणेशजी की भाँति तथा आकाश के समान हमारी रक्षा करें।

विद्या-विशारदे देवि सारदे ज्ञान-सारदे !
विनयावनतो वन्दे सुशीले पुण्यवारिदे ।।

– हे विद्या-विशारदे, ज्ञानसार-दात्री, सुशीले, पुण्य-वर्षिणी, माँ सारदे ! मैं सविनय नतमस्तक आपकी वन्दना करता हूँ।

रामकृष्णो गुरुर्यस्य ब्रह्मज्ञान-पयोनिधिः।
विवेकानन्ददां वन्दे सारदां धर्मवारिधिम् ।।

– श्रीरामकृष्ण परमहंस जैसे महान् विभूति जिनके गुरु थे, जो ब्रह्मज्ञान की सागर हैं, उन विवेकानन्द-प्रदात्री तथा धर्म-वारिधि माँ सारदा देवी की मैं वन्दना करता हूँ।

मंगल कार्यों को करना। किसी को हाथ में आग न देना, पति की स्वस्थता के लिए तारकेश्वर देव से प्रार्थना करना, व्रताचरण, हमेशा सिर पर कपड़ा डालना, सम्पूर्ण शरीर को कपड़े से ढँके रहना, सर्वदा नारी की मर्यादा में रहना आदि। ग्रामिण नारियों का लज्जा ही अलंकार है। माँ स्वयं अपने पुरुष-भक्तों एवं संन्यासी-सन्तानों – स्वामीजी, ब्रह्मानन्दजी आदि के समक्ष भी आपादमस्तक वस्त्रावृत रहतीं। एक कम आयु की सुन्दर गृहवधु को उन्होंने कहा – "हमेशा अपने शरीर पर अच्छी तरह से कपड़ा या चादर लपेट कर बाहर निकलना। इससे तुम्हें लगेगा मानो कोई तुम्हारे साथ है।" इस प्रकार माँ ने लोकाचार का पालन कर अपने जीवन से जन-मानस को शिक्षा प्रदान की।

दैवी तथा लोक-सम्बन्ध-समन्वय

श्रीमाँ के दैवी स्वरूप को ग्रामवासी नहीं समझते थे। वे उन्हें अपनी बुआ, मौसी और दीदी ही मानते थे। एक दिन किसी ने माँ से पूछा – "तुम्हारे दर्शनों के लिये कितने दूर से कितने लोग आते हैं, पर हमलोग तुम्हें क्यों नहीं समझ पाते हैं? श्रीमाँ ने उत्तर दिया – "नहीं समझे तो क्या हुआ? तुम लोग मेरे सखा, मेरी सखी हो।" चौकीदार अम्बिका बागदी ने माँ से कहा – "आपको लोग देवी, भगवती, कितना कुछ कहते हैं, पर हम लोग तो कुछ नहीं समझते-बूझते।" श्रीमाँ ने उत्तर दिया – "तुम्हें समझने की जरूरत क्या है? तुम मेरे अम्बिका भैया हो, और मैं तुम्हारी सारदा बहन हूँ।"

परवर्ती काल में गाँव के लोग भी उनके दैवी स्वरूप का आभास पाकर उनका यथेष्ट सम्मान करते थे, लेकिन श्रीमाँ उनके साथ लौकिक सम्बन्धों का ही निर्वाह करती रहीं।

लोक में अलौकिक जीवन का आदर्श

श्रीमाँ का जीवन जन-साधारण में सामान्य प्रतीत होता हुआ भी, वास्तव में सर्वोत्कृष्टतम जीवन का आदर्श है। वे लोक में रहकर जागतिक वृत्तियों, लोकाचारों का अनुपालन करती हुई भी सर्वदा परमात्म-सत्ता से संयुक्त रहीं। उनकी दृष्टि, उनकी चेतना सदा ईश्वर-लीन रही। वे सर्वदा श्रीरामकृष्णमय अभिन्न प्राण बनी रहीं। वे लोक में रहकर भी पूर्ण अनासक्त एवं माया निर्युक्त रहीं। जहाँ उनके मुखारविन्द से पति-पत्नी की नोंक-झोंक, राधू के दुष्टता की व्यथा, पगली मामी के पागलपन की व्यथा भी लीलावत् अभिव्यक्त होती, वहीं अंतस्थ-मुखस्थ के गद्यगीत भी मुखरित हुये। वे रोज एक लाख जप करतीं, उनके मुखपद्म से आध्यात्मिक उच्चभूमि के उपदेश भी भक्तों के कल्याणार्थ नि:सृत हुए, परसंवेदना से संवेदित सान्त्वना की सुरसरि भी प्रवाहित हुई तथा इन सबसे परे स्व स्वरूप में, अपनी आदिशक्ति के मूल कारण परमात्मा में सदा प्रलीन रहीं। ऐसा था माँ का लोक में रहकर भी अलौकिक दिव्य जीवन !

श्रीमाँ की खोज कहाँ-कहाँ करें?

भारत के सुख्यात् साहित्यकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने चित्रकूट पर एक कविता लिखी है –

वा पथ की पग-धूरि महा,
जहाँ विचरीं सारदा-चन्द्र-चकोरी।
हो शरणागत ता पद की,
पाऊँ आनन्द बहोरि बहोरि ।।

इस प्रसंग को अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने अपने 'भारतीय परम्परा : उच्छलित लोक' नामक व्याख्यान में उद्धृत किया है। श्री शुक्ल जी अपनी कविता में लिखते हैं – "चित्रकूट का काँटा भी हमारा अपना सगा-सा लगता है। हमें लगता है कि यह काँटा उस काँटे का वंशज है, जो सीता के पैरों में चुभा था और राम ने उसे अपने हाथों से निकाला था।" यहाँ काँटा भी सीता-राम का उद्दीपक है, तो अन्य वस्तुओं का क्या कहना? वैसे ही यदि श्रीकृष्ण-राधिका को खोजना है, तो केवल वृन्दावन के मन्दिरों में ही नहीं, वहाँ के कण-कण में खोजना होगा। वहाँ की रासभूमि निधुवन के कुंज, उनकी क्रीड़ा-स्थल रमणरेती धाम, वंशीवट, नाग-नथैया भूमि, वह चारु कल्लोलिनी रासलीलासाक्षिणी यमुना मैया की धारा, वहाँ की गलियाँ आदि सभी श्रीराधा-कृष्ण के उद्दीपक हैं। श्रीराधा-कृष्ण की चरण-रेणु उनमें अनुस्यूत है, जो आज भी भक्तों के हृदय को उद्दीप्त करते हैं। ठीक ऐसे ही, यदि हमें श्रीमाँ के सान्निध्य-प्राप्ति की आन्तरिक अभिलाषा है, तो हमें श्रीमाँ से प्रार्थना कर उनसे दिव्य दृष्टि प्राप्त करनी होगी, विशुद्ध उदात्त हृदय प्राप्त करना होगा, तब उसी हृदय में माँ का दिव्य सान्निध्य अभिव्यक्त होगा। जयरामवाटी, कलकत्ता आदि जिन पथों पर श्रीमाँ ने पादचारण किया, वहाँ का कण-कण माँ के उसी चरण-रेणु से संबद्ध है, जयरामवाटी, कामारपुकुर के वे तालाब, वहाँ के वृक्ष, फसल, पौधे, पशु-पक्षी, आमोदर नदी, उनका निवास स्थान, नया-पुराना घर, वहाँ के निवासी, सभी कहीं-न-कहीं से श्रीमाँ सारदा से संबद्ध हैं, इन्हें देखकर भी श्रीमाँ के सान्निध्य की उद्दीपना होती है। मानो माँ कह रही हैं - "यदि शान्ति चाहते हो तो किसी का दोष मत देखना, दोष केवल अपना ही देखना, संसार को अपना बनाना सीखो, कोई पराया नहीं है, सभी तुम्हारे अपने हैं" और तभी माँ की वह अभय प्रेममयी सान्त्वना वाणी सुनाई पड़ेगी – "**याद रखो कि तुम्हारी एक माँ है।**" ❑❑❑

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(अनेक वर्षों पूर्व विद्वान् लेखक ने 'विवेक-ज्योति' के लिए प्रेरक-प्रसंगों की एक शृंखला लिखी थी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित होकर बड़ी लोकप्रिय हुई। अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद उन्होंने अब उसी परम्परा में और भी प्रसंगों का लेखन प्रारम्भ किया है। – सं.)

(५) उदर भरन के कारने

एक बार सन्त अबू हसन और सन्त इब्राहीम में धर्म-चर्चा चल रही थी। चर्चा के दौरान इब्राहीम ने अबू हसन से प्रश्न किया, "आप अपना उदर-भरण कैसे करते हैं?" इस पर उन्होंने उत्तर दिया, "जब कोई मुझे कुछ लाकर देता है, तो मैं उसे रख लेता हूँ और खुदा के प्रति शुक्रगुजारी व्यक्त करता हूँ। यदि किसी ने कुछ न दिया, तो मैं 'खुदा की मर्जी' कहकर वह दिन बिना कुछ खाये गुजार देता हूँ।"

इब्राहीम ने उनसे पूछा, "मगर आप किसी से माँगते क्यों नहीं? आप जानते ही हैं कि भूख लगने पर कुत्ता भी अपने मालिक के सामने पूँछ हिलाने लगता है। मालिक जान लेता है कि उसे भूख लगी है और वह उसके भोजन का प्रबन्ध कर देता है। आप भी वैसा ही क्यों नहीं करते?"

अबू ने जवाब दिया, "जब मुझे कोई खाना लाकर देता है, तो पहले मैं यह देखता हूँ कि आसपास कोई भूखा तो नहीं है। अगर मुझे कोई भूखा दिखाई देता है, तो पहले उसी को वह भोजन देकर जो भी बचता है, उससे मैं अपने पेट की भूख मिटाने का प्रयास करता हूँ। अगर किसी ने मुझे खाने को कुछ नहीं दिया, तो उस दिन रोजा रखता हूँ। इसके लिए मैं खुदा को दुआ देता हूँ कि उसने मुझे रोजा रखने का आदेश देकर मुझे पुण्य कमाने का मौका दिया।"

इब्राहीम सुनकर बोले, "धन्य हैं आप! ऐसे श्रेष्ठ व्यक्ति मेरे देखने में नहीं आये। सचमुच आप महान् हैं, जो भूखे रहकर भी उसे 'खुदा की मर्जी' बताते हैं। आप इतनी बुलन्दी पर पहुँचे हैं कि वहाँ तक पहुँचने के लिए मुझे धरती पर दुबारा जन्म लेना पड़ेगा।"

(६) शरीरम् आद्यं खलु धर्म-साधनम्

सन्त गजानन महाराज की निस्पृहता से श्रद्धावनत होकर शेगाँव-निवासी बंकटलाल अग्रवाल उन्हें अपने घर ले गये और इन नंग-धड़ंग सन्त की बड़ी आस्था के साथ सेवा-टहल करने लगे। परन्तु स्वच्छन्दता-पूर्वक घूमनेवाले सन्त का मन भला वहाँ कहाँ रम सकता था। वे उस परिवार के सदस्यों की नजर बचाकर कभी पिंपलगाँव चले जाते, तो कभी आकोली या कभी आकोट। यह देखकर बंकटलाल को दुख होता और वे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वहाँ पहुँचकर उन्हें वापस अपने घर ले आते।

एक दिन महाराज को बाहर जाते देखकर बंकटलाल ने पूछा, "महाराज, क्या आपको मेरे घर में कोई कष्ट है, जो आप दूसरी जगह जाते रहते हैं?" महाराज बोले, "नहीं, मुझे जरा भी कष्ट नहीं है। पर एक ही जगह में रहने में मेरा मन नहीं लगता, इसलिए मैं खुली जगह की सैर करने जाता हूँ।" जब बंकटलाल ने पूछा कि वे कहाँ जा रहे हैं, तो उत्तर मिला कि शेगाँव के ही हनुमान-मन्दिर जा रहे हैं। बंकटलाल ने उनके साथ जाकर उन्हें मन्दिर में पहुँचा दिया।

पाटील नामक एक सज्जन मन्दिर की व्यवस्था करते थे। उनके पुत्र हरि को अपने डीलडौल वाले शरीर का बड़ा गर्व था। महाराज को जब उसने मन्दिर में पालथी मारे – "गण-गण-गणेश" – का जाप करते देखा, तो वह जाकर उनसे बोला – "ओ गणोबा, उठो। यहाँ मैं दण्ड-बैठक लगाऊँगा।" महाराज ने प्रश्न किया, "भला कोई मन्दिर में भी दण्ड-बैठक लगाता है?" तो हरि ने उत्तर दिया, "हाँ, मन्दिर मेरा है। मैं यहाँ दण्ड-बैठक लगाऊँ या कुश्ती लड़ूँ, इसमें तुम्हें क्यों एतराज होना चाहिए?" फिर सहसा उसने पूछा, "लड़ोगे मेरे साथ कुश्ती।" महाराज ने उत्तर दिया, "कुश्ती तो बाद की बात है, मैं यहाँ पालथी मारकर बैठा हूँ। पहले मुझे यहाँ से उठाकर खड़ा करो, तो जान लूँ कि तुममें कितनी ताकत है।" घमण्ड में चूर हरि बोला, "यह तो मेरे बायें हाथ का खेल हैं।" और उसने बायें हाथ से ही उन्हें उठाना चाहा। उसने खूब जोर लगाया, मगर वह महाराज को हिला तक न सका। उसने जी-जान से कोशिश की और यहाँ तक कि उसके शरीर से पसीने की धारा बह निकली, मगर तो भी वह उन्हें हिला न सका। आखिर थक-हारकर वह उनके पास बैठकर सुस्ताने लगा। तब महाराज उससे बोले, "बेटा, अभी तू छोटा है। **अपने से बड़ों पर और वह भी बूढ़ों पर अपनी जवानी का प्रदर्शन कदापि नहीं करना चाहिए**। अपनी शरीर-सम्पदा का कभी भी गर्व नही करना चाहिए। और न ही दूसरों को अपने से तुच्छ समझना चाहिए। हर व्यक्ति के शरीर में भगवान निवास करते हैं, यह मानकर अपनी शक्ति तथा ऐश्वर्य का उपयोग दुर्बलों को उठाने में करना ही सच्ची मानवता है। ❖ (क्रमशः) ❖

माँ श्री सारदा देवी का अनुपम जीवन

इन्दु पाण्डेय, सारदा संघ, लखनऊ

जोश मलीहाबादी ने एक स्थान पर कहा है –

मत सहल[1] हमें समझो, फिरता है फलक[2] बरसों
तब खाक के परदे से, इंसान निकलते है ।

माँ श्री सारदा देवी खाक के परदे से निकली एक ऐसी शख्सियत हैं, जो ज्योति-कलश बनकर हमारे अँधेरे जीवन में रोशनी बिखेर रही हैं। खाक तो मिट्टी ही है न ! और मिट्टी का रंग भी क्या कोई रंग है? – एक बदसूरत जिन्दगी के कैनवास पर उकेरे गये रेखाचित्र-सा मलिन और निस्तेज। लेकिन जब इस रेखाचित्र में प्रकृति की ताजगी लिए हुए जीवन्त रंगों का संयोजन कर दिया जाता है, तो बदरंग मिट्टी-सी जिन्दगी में प्रकाशोत्सव उपस्थित हो जाता है।

माँ तो एक ग्राम्य बाला हैं, साधारण खेतिहर परिवार में जन्मी-बढ़ी हैं, सीता-सी वे भी धरती की पुत्री हैं। किन्तु धूल-मिट्टी में लिपटे उनके मैले आंचल में जिस एक वजह से सारे संसार को पनाह मिली हुई है, वह है उनका मातृत्व। यही वह प्रकाश है, जो शाश्वत प्रेम की बेमिसाल कथा बनकर हमें दिशा-बोध करा रहा है।

माँ आखिर कौन हैं? यदि इसी प्रश्न का उत्तर देने बैठे, तो हठात् मुँह से यही निकलेगा कि 'माँ तो बस माँ ही है।' माँ का कोई उपमान नहीं है। बात यदि सिर्फ चेहरे की होती, तो शायद हजार चेहरों की बानगी सामने आ जाती, किन्तु बात जब जीवन की उठी है तो माँ की मिसाल ढूँढ़े नहीं मिलती।

साधुओं का एक दल पूर्वी बंगाल (अब बंगलादेश) की ओर जा रहा है। रास्ते में यह दल एक चाय की दुकान पर रुकता है। साश्चर्य साधु लोग देखते हैं कि दुकान में एक कोने पर माँ का चित्र टँगा है। चाय-पान के उपरान्त वे दुकानदार से पूछते हैं, "यह किसका चित्र है?" दुकानदार बताता है, "चित्र किसका है, यह तो नहीं पता, लेकिन इनमें मुझे अपनी 'माँ' दिखती है।" यही माँ की अनुपमता है। वे सबकी माँ हैं। यद्यपि प्रत्येक को अपनी माँ प्यारी है, किन्तु श्रीमाँ तो सबको प्रिय हैं, क्योंकि वे सभी की माँ हैं। उन्हें देखते ही दिल में एक हूक उठती है, जिसमें माँ के लिए एकान्तिक पुकार बसी है – "माँ, तुम मेरी अपनी माँ हो।" अपनत्व की इस गूँज से ही हर दिल आबाद है।

माँ हमारे दिलों के सूनेपन का संगीत हैं। उनका आना उजड़े दयार में प्रवहमान बयार-सा है। वे हमारे सुख-दुख की साथिन हैं, हमारी नीरव जिन्दगी में संवाद बनकर आयी हैं। "बेटी, मैं तो सदा तुम्हारे साथ ही हूँ, तुम्हें भय कैसा? – यह मधुर अभय-वाणी भला और किसकी हो सकती है? "जब भी तुम पर कोई मुसीबत आये, तो सोचना कि मेरी एक माँ है।" – इन शब्दों में किसकी करुणा मुखरित हो रही है? उत्तर तो बस एक ही है – "माँ की, सिर्फ माँ की।"

माँ एकदम सरल हैं, पूर्णत: सहज हैं। जीवन तथा वाणी में एक जैसी – साफ, निर्मल। उनके व्यक्तित्व में कहीं कोई बनाव नहीं है, कोई घुमाव नहीं है। वे तो बस प्रस्तुत हैं, हर वक्त, हर दशा में। प्रतीक्षा करतीं, निहारतीं, बातें करतीं, भोजन परोसतीं, चुपचाप बैठी बिसुरती हुईं वे शान्ति की चरमावस्था में चालित स्नेहमयी क्रिया-सी लगती हैं। इस क्रिया में कोई आग्रह नहीं है, कोई उतावलापन नहीं है, कोई व्यग्रता नहीं है। यहाँ तो बस प्रेम का गंगासागर है, जिसे कहीं जाना नहीं है, कुछ पाना नहीं है, जिसकी क्रियाशीलता में दाता का नेह है, जो मेह बनकर सब पर बरसता है, सबको सुखी बनाता है, सबको जीवन देता है।

विश्व के इतिहास में अथवा ऐतिहासिक कथाओं में क्या कोई एक और ऐसा व्यक्तित्व हुआ है, जो ब्रह्मज्ञानियों की 'माँ' होकर भी धरती के समतल-सी नम्र हो; जिसके पास दिखावे के लिए कुछ न हो – न कोई सिंहासन, न कोई ओहदा, न कोई पीठ, न कोई चमक-दमक। गाँव की गलियों में खेलती सारू का सारा जीवन एक अविराम तपस्या-सा दृश्यों की गहमा-गहमी से अछूता ही रहा है। अपने माँ-बाबा एवं गरीब ग्रामवासियों की सेवा करती सारू का श्रीमाँ सारदा देवी होना सिर्फ लेखन, मनन तथा बौद्धिक विलास के लिए ही महत्त्वपूर्ण है, अन्यथा सेवा की सरल रेखा-सा उनका जीवन अपनी अति साधारण लगनेवाली भूमिका के कारण ही असाधारण है।

माँ के बारे में लिखते हुए हमारी दृष्टि बार-बार स्वयं पर ही आती है। उथल-पुथल भरी जिन्दगी जीते हुए हम वस्तुत: कितनी उथली हैं। सतह पर जीते जन्तुओं की भाँति क्या हम कभी नियति के चक्र से छूट सकेंगी? क्या सागर की अतल गहराइयों में पैठ पाना हमारे भाग्य में है? मन क्षुब्ध हो जाता है और एक शोकार्ता के सुर-में-सुर मिलाकर गाना चाहता है –

हो आखिर पाषाण कुमारी, करुणा क्या तव उर में ?
करुणाहीना होकर ही तो, मारा पग पति-उर में।।

तभी लगता है कि उन करुणामयी ने तो कभी किसी को निराश नहीं किया है, अधमाति-अधम को भी अपनी स्नेह-छाया में आश्रय दिया है। तो क्या मुझे उनकी छाया से वंचित होना पड़ेगा? – कतई नहीं। उन जैसी आश्रयदात्री कोई नहीं। वारांगनाओं तक को उन्होंने अपने वक्ष में स्थान देकर सुशीतल

१. आसान २. फटेहाल

बनाया है, डकैतों तक के प्रति उनका मातृ-भाव कभी कम नहीं हुआ, पशुओं तक से उनके रिश्ते का पैमाना कभी बदला नहीं; फिर हम तो उनकी हैं ही, हमारे लिए भी उनके दिल में एक छोटी-सी सीट सुरक्षित है। वे हमें कहाँ-कहाँ ले जायेंगी, कहाँ-कैसे रखेंगी, यह तो वे ही जानें, किन्तु हमारा-उनका नाता अटूट है। वे जहाँ भी रहेंगी, हम उनके साथ होंगे।

एक भक्त संघ छोड़ जा रहा है। जाने के समय माँ रोने लगती हैं। साथ ही भक्त भी रोने लगते है। माँ स्नेह-पूर्वक कहती हैं – "मुझे न भूलना।" भक्त ने पूछा – "माँ, और आप?" माँ ने कहा – "माँ कभी बच्चे को भूल सकती है? जानना कि मैं हर घड़ी तुम्हारे साथ हूँ, कोई डर नहीं।"

कैसा अद्‌भुत स्वभाव है माँ का ! यह स्वभाव ही उन्हें ईश्वर से भी ऊपर के दर्जे में प्रतिष्ठित करता है। विभीषण के शरणागत होने के प्रसंग में श्री रामचन्द्र जी कहते हैं –

कोटि विप्र-बध लागहि जाहू ।
आए सरन, तजउँ नहि ताहू ।।

अर्थात् करोड़ों ब्राह्मणों की हत्या करनेवाला भी यदि ईश्वर की शरण में आता है, तो वे उसे भी अपना लेते हैं, उसका त्याग नहीं करते। पर माँ की लीला तो अवर्णनीय है – वे शरणागत की रक्षा तो करती ही हैं; जो उन्हें त्याग कर चले जाते है, उन्हें भी वे नहीं त्यागती। रामकृष्ण संघ को छोड़कर जानेवाले भक्त को भी वे छोड़ती नहीं, उसे भी अभय देती हैं।

स्वयं श्रीरामकृष्ण ने हृदय से कहा था कि उनके (अपने) अन्दर जो हैं, वे यदि नाराज हो जायँ, तो उन्हें किसी उपाय से मनाया जा सकता है, लेकिन माँ के अन्दर जो है, वे यदि नाराज हो जायें, तो ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी उसकी रक्षा नहीं कर सकते।

पर माँ भला नाराज क्यों होने लगीं ! वे तो आनन्दमयी हैं। ठाकुर की चरण-सेवा करती हुई माँ जब उनसे पूछती हैं – "तुम मुझे किस निगाह से देखते हो।" तो इसके त्वरित जवाब में ठाकुर के श्रीमुख से पहला वाक्य यही निकलता है, "तुम मेरी आनन्दमयी हो।" वस्तुतः आनन्द ही हमारे जीवन का आखिरी सिद्धान्त है, जिसकी प्रणेता माँ स्वयं हैं। हमारे जीवन में जो उल्लास है, जो उत्सव है, उसकी पृष्ठभूमि में माँ स्वयं हैं। जिस आनन्दातिरेक में फूल खिलते हैं, चिड़ियाँ चहकती हैं, बादल गरजते हैं; उसमें माँ का हास परिलक्षित होता है। उनका कोप भी उनके आनन्द का ही सूचक है, क्योंकि उसमे हमारे कल्याण का बीज छिपा है।

सीताजी की खोज में जंगल-जंगल भटकते श्री रामचन्द्र से नारदजी पूछते हैं –

तब विवाह मैं चाहउँ कीन्हा ।
प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ।।

श्री रामचन्द्र जी भी इसका बड़ा मार्मिक उत्तर देते हैं –

सुनु मुनि तोहि कहउँ सह रोसा ।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ।।
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी ।
जिमि बालक राखइ महतारी ।।
गह शिशु बच्छ अचल अहि धाई ।
तहँ राखइ जननि अरगाई ।।

अर्थात् आग, साँप आदि को खिलौना समझ कर पकड़ने के लिए लपकने वाले बच्चे को माँ इनसे दूर हटा देती है, यद्यपि बच्चा इसके कारण खूब रोता है, किन्तु माँ इसके रोने-धोने पर ध्यान न देकर वही करती है, जो बच्चे के हित में है। बच्चे का हित ही माँ की खुशी है। ठीक इसी प्रकार जगदम्बा भी सारे संसार की रक्षा करती हैं। सभी तो उनके बच्चे हैं। बच्चों के जीवन में सांसारिक दृष्टि से सुख एवं दुख के तारतम्य नजर आते हैं। किन्तु सुख की भाँति दुख भी माँ की कृपा-कटाक्ष का ही एक पहलू है। निरन्तर हमारे कल्याण में रत माँ का आनन्द हमारे सुख-दुख से अप्रभावित ही रहता है। पर आनन्द के साथ ही माँ करुणा की भी खान हैं, वे हमें ज्ञान देना चाहती हैं – "बेटी, इसे सह लो, यही तुम्हारे हित में है।" ठाकुर की ही भाँति वे भी मानो कहती हैं – "जो सहता है वही रहता है, जो नहीं सहता वह मरता है।" इसीलिए ठाकुर ने एक तरफ उन्हें अपनी – "आनन्दमयी माँ" कहा और दूसरी ओर यह भी कहा – "वह सारदा है, सरस्वती है, ज्ञान देने आयी है।"

ज्ञानदायिनी माँ सारदा के समान कौन हो सकता है? उनके अपूर्व जीवन को देखकर स्वामी विवेकानन्द जैसे योद्धा संन्यासी भी अशोक-वाटिका में उपस्थित हनुमानजी की भाव -भंगिमा का स्मरण करते हुए बोल पड़ते हैं – "को रामः?" अर्थात् हनुमान जी सीताजी को देखकर श्रीराम को भूल जाते हैं, ठीक वैसे ही स्वामीजी माँ श्री सारदा देवी के जीवन को देखकर मानो पूछ बैठते हैं – "को रामकृष्णः?" और माँ को पिता से लाख गुना श्रेष्ठ बताते हैं – "रामकृष्ण ईश्वर थे या आदमी – जो भी कहो – किन्तु जिसकी माँ पर भक्ति नहीं – उसको धिक्कार।" सत्य की कसौटी पर कसे ये वाक्य माँ के स्वरूप के प्रति हमें सजग बनाये रखने के लिए स्वामीजी की चेतावनी है।

गोस्वामी तुलसीदास को श्रीमाँ सीताजी के शोभा के वर्णन के लिए कोई उपमा नही मिलती –

सब उपमा कवि रहे जुठारी ।
केहिं पटतरौं बिदेह कुमारी ।।

समस्त उपमाये तो कवियों ने जूठी कर डाली हैं। फिर भला जनक-नन्दिनी सीताजी की उपमा किससे दी जाय?

(शेष अगले पृष्ठ पर)

माँ की पुण्य-स्मृतियाँ

चपला सुन्दरी दत्त

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

मेरे पति का नाम चन्द्रमोहन दत्त है। एक चरम मानसिक और पारिवारिक अशान्ति के बाद मेरे पति के जीवन में माँ की कृपा फलीभूत हुई। माँ की कृपा से उन्हें 'उद्बोधन कार्यालय' में नौकरी मिली। वेतन के साथ ही जगदम्बा की कृपा पाने का भी सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ। माँ की कृपा से मेरे पति को नौकरी मिली और इतना ही नहीं, आज हम जिसमें रहते हैं, वह मकान-जमीन तथा घर के सारी चीजें उन्हीं की कृपा से हैं। माँ के घर नौकरी पाने कुछ दिनों बाद ही उन्होंने मेरे पति पर कृपा करके उन्हें मंत्र-दीक्षा भी दिया। मेरे पति की प्रार्थना पर माँ ने उन्हें अपना जगद्धात्री रूप भी दिखाया था। यह बात माँ के देहत्याग के बाद मेरे पति ने मुझे बतायी थी। माँ के यह बात अपने जीवन-काल में किसी को बताने से मना किया था। एक रात मैंने स्वप्न देखा कि माँ मुझे दीक्षा दे रही हैं। नींद खुलने के बाद भी स्वप्न में प्राप्त मंत्र को मैं भूली नहीं थी। सुबह नींद टूटने पर मैंने अपने पति से स्वप्न की बात कही। उन दिनों हम लोग बागबाजार में निवेदिता लेन के एक किराये के कमरे में रहते थे। हमारा घर माँ के मकान के पास ही था। मेरे पति ने सुबह माँ के घर जाकर उन्हें मेरे स्वप्न की बात बतायी। सब सुनकर माँ ने कहा – "बहू से कहो कि वह गंगा-स्नान करके एक नयी साड़ी पहनकर पाँच हर्रें लेकर मेरे पास आये।" मेरे पास नयी साड़ी नहीं थी। माँ ने उनके हाथ एक नयी साड़ी भी भेज दी। अगले दिन माँ ने कृपा करके मुझे दीक्षा दी। इसके बाद वे बोलीं – "पहले स्वप्न में पाये मंत्र का और उसके बाद नये मंत्र का जप करना।"

हम लोग किराये के जिस घर में रहते थे, उसके मालिक तथा उनकी पत्नी कुछ अच्छे स्वभाव के न थे। उस समय मेरी बड़ी पुत्री इन्दु (माँ उसे स्नेहपूर्वक 'बड़ी खूकी' कहकर सम्बोधित करतीं) तथा बड़े पुत्र अमूल्य की उम्र क्रमशः ६ और २ वर्ष थी। जब वे लोग कोई खिलौना लेकर खेलते, तो मकान-मालिक या उनकी पत्नी आकर उनके खिलौने छीनकर बाहर फेंक देते। कहते कि इससे मकान गन्दा हो रहा है। इसके फलस्वरूप भाई-बहन का खेलना बन्द हो गया। मकान-मालिक या उनकी पत्नी को देखते ही बच्चे इतने आतंकित हो उठते कि दौड़कर कमरे में घुस जाते। परन्तु कौन जानता था कि उन लोगों का यह अत्याचार हम लोगों के लिए अभिशाप नहीं, अपितु वरदान सिद्ध होगा! बच्चों का उदास चेहरा देखकर मुझे बड़ा दुख होता। एक दिन पतिदेव के 'मायेर बाड़ी' से लौट आने पर रात को मैंने उनसे कहा – "बड़ी बेटी (इन्दु) और अमूल्य का कष्ट मुझसे देखा नहीं जाता। कुछ उपाय करो। यदि स्वयं नहीं कर सकते, तो जाकर माँ को बताओ। वे कोई-न-कोई उपाय जरूर बतायेंगी।"

अगले दिन सुबह मेरे पतिदेव ने जाकर माँ को सब कह सुनाया। करुणामयी माँ ने तत्काल शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) को बुलाकर कहा – "शरत्, चन्दू को सिर रखने के लिए एक जगह बना दो। मकान-वाला बच्चों को खेलने न दे – यह कैसी निष्ठुरता है!" मेरे पति को बुलाकर वे बोलीं – "चन्दू, बहू और बच्चों को अभी गाँव के मकान (ढाका जिले के गाउपाड़ा गाँव में मेरी ससुराल थी) में पहुँचा दो। मकान बन जाने पर स्थायी रूप से नये मकान में ले आना।" माँ के निर्देशानुसार मेरे पति हम लोगों को गाँव पहुँचा आये। शरत् महाराज की चेष्टा से बागबाजार के

पिछले पृष्ठ का शेषांश

ठीक इसी प्रकार माँ सारदा के जीवन में जो सरलता है, जो अनगढ़पन है, जो अपनापन है, उसे कैसे व्यक्त किया जाय? किसी शब्द में इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह माँ के स्वरूप का स्पर्श कर सके। एक सपाट, सामान्य जीवन के आनन्दोज्ज्वल आलोक में श्रुतियों की महिमा भी छूँछी ही दिखती है। इसीलिए तो उनके जीवन को महान् आश्चर्य (The Great Wonder) कहा गया है, जिसकी सानी न तब थी, न अब है, आगे भी होगी या नहीं कहना बड़ा मुश्किल है, क्योंकि –

हजारों साल शबनम अपनी बेनूरी पे रोती है।
बड़ी मुश्किल से होता है, जहाँ में दीदवर पैदा।।

❑❑❑

बोसपाड़ा में हम लोगों का मकान बना। शरत् महाराज ने स्वयं जाकर भूमि-पूजन किया। महाराज के निर्देश पर गणेन महाराज ने स्वयं खड़े होकर मकान बनवाया। उसके बाद वे गाँव से हम लोगों को कलकत्ते ले आए। गृह-प्रवेश के दिन शरत् महाराज नहीं आ सके, तो भी माँ के घर के अन्य साधु -ब्रह्मचारी-गण हमारे घर आये थे। चित्रपट में ठाकुर और माँ की पूजा हुई। एक संन्यासी ने पूजा की। माँ ने स्वयं ही ठाकुर तथा अपने चित्रपट की पूजा करके हमारे घर भेज दिया था। उसी पट में पूजा हुई। आज भी उसी पट की हमारे पूजागृह में नित्य पूजा होती है। उस दिन साधु-ब्रह्मचारी-गण ने हमारे नये मकान में रामनाम-संकीर्तन किया और उन लोगों ने हमारे घर ही प्रसाद भी ग्रहण किया था। चावल, दाल आदि सभी चीजों की व्यवस्था निश्चय ही शरत् महाराज ने कर दी थी। बल्कि नेपथ्य से माँ ने स्वयं कर दिया था। उस दिन जो आनन्द हुआ था, उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। आज आयु अधिक हो गयी है। बहुत-सी स्मृतियाँ, अनेक घटनाएँ विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गयी हैं। दो-चार जो याद हैं, उन्हें बताने की चेष्टा कर रही हूँ।

श्रीठाकुर और स्वामीजी के जन्मतिथि के उत्सव के समय मेरे पति 'उद्‌बोधन कार्यालय' के पुस्तकों का विक्रय करने के लिए प्राय: बाँकुड़ा, मेदिनीपुर आदि स्थानों को जाते। उन दिनों मेरे बच्चे छोटे थे, बाजार करने को घर में कोई नहीं रहता। माँ सब जानती थीं, अत: किसी ब्रह्मचारी महाराज या किसी अन्य के हाथ कच्ची सब्जियाँ भिजवा देतीं। मेरे पति से वे कहतीं – "चन्दू, जब कभी तुम बाहर जाओगे, तो बहू से कहना कि किसी चीज की भी जरूरत होने पर वह बड़ी खुकी को भेजकर या स्वयं आकर मुझे बताये।"

एक दिन मैं माँ के घर गयी। नयी साड़ी पहने हुए थी। घर में कील से लगकर वह फट गयी थी। उसके फटे स्थान पर मैंने रफू कर लिया था। वह रफू घूंघट के स्थान पर आ गया था, इसका मुझे ध्यान नहीं था। माँ की दृष्टि वहाँ पड़ी। उन्हें प्रणाम करते ही वे बोलीं – "बहू, याद रखो, कभी भी रफू करके कपड़े मत पहनना।" उसी समय से मैंने कभी रफू किये हुए कपड़े नहीं पहने। एक अन्य दिन माँ ने कहा था – "बहू, एक बात याद रखना – जन्म-मृत्यु तथा काल के अशौच में ठाकुर का कोई काम मत करना। पूजाघर में भी मत जाना।" तभी से अशौच होने पर अन्य किसी से ठाकुर की पूजा कराती हूँ। माँ जितने दिन तक स्थूल शरीर में थीं, मुझे कभी साड़ी खरीदनी नहीं पड़ी। माँ ही सब देतीं। माँ के देहत्याग के बाद शरत् महाराज ने माँ के समान ही हम लोगों को कभी कोई अभाव नहीं महसूस होने दिया।

बचपन से ही मैं खाना बनाने में निपुण हो गयी थी। नारियल को खूब छोटे चिवड़ों के आकार में काटकर चीनी डालकर धीमी आँच पर भुनती। इससे वे खूब सफेद और कुरमुरे हो जाते। पति के हाथों मैं उन्हें माँ के पास भेज देती। माँ कृपा करके मेरे बनाये इन सामान्य चीजों को ठाकुर के भोग में दिलातीं। साधु-भक्तगण प्रसाद पाकर खुश होते। माँ और शरत् महाराज मेरे द्वारा बनाया भोजन खूब पसन्द करते। मेरी बनायी अमावट, दाल की बड़ियाँ तथा सरसों की चटनी माँ, शरत् महाराज तथा 'उद्‌बोधन' के महाराज-गण खूब पसन्द करते। जाड़ों में कुछ विशेष मिठाइयाँ (रसपुली तथा पाटीसापटा) बनाकर भेजती। माँ दया करके उन्हें ठाकुर के भोग में दिलवातीं। बीच-बीच में दो-एक चीजें बनाकर मैं 'माँ के घर' भेजती ही रहती। मेरी बनायी चीजें खाकर माँ कहतीं –"बहू बढ़िया पकाती है।"

एक दिन चूल्हे पर उड़द की दाल चढ़ी थी। दाल कुछ गाढ़ी हो जाने पर मैं घड़े से कड़ाही में पानी ढाल रही थी। तभी हाथ से घड़ा फिसल कर कड़ाही में गिर गया। कड़ाही की गरम दाल छिटक कर मेरे शरीर और हाथ पर आ पड़ी और असह्य जलन होने लगी। पीड़ा से मैं चिल्लाने लगी। पतिदेव घर में ही थे। आवाज सुनकर वे कमरे से बाहर आये और मेरी हालत देखकर बड़ी बेटी को मेरे पास छोड़ दौड़कर माँ के पास गये। सब सुनकर माँ ने एक कटोरी में सरसों का तेल लिया और ठाकुर का नाम जप कर उन्हें देते हुए बोलीं – "इसे अभी ले जाकर जले अंग पर लगा दो।" लौटकर उन्होंने वैसा ही किया। क्या कहूँ, बड़ी अद्‌भुत बात हुई! मिनटों में ही इतनी जलन-पीड़ा न जाने कहाँ चली गयी।

बड़ा लड़का अमूल्य खूब शरारती था। मैं उसकी शरारतों से परेशान हो जाती। घर के सामने एक तालाब था। वह जब-तब उसी में घुसकर उछल-कूद मचाता। मैं गंगा-नहाने जाती, तो साथ जाने की जिद करता। ले जाने पर पानी से निकलने का नाम ही नहीं लेता। एक दिन मैं माँ के पास गयी, साथ में अमूल्य भी था। मैंने माँ से उसकी शरारतों के बारे में निवेदन किया – "माँ, इसे थोड़ा शान्त कर दो।" माँ हँसते हुए बोलीं – "जरा बहू की बात तो सुनो! छोटा बच्चा शरारत नहीं करेगा, तो क्या गोबर-गणेश बनकर माँ के आँचल में घुसा रहेगा? चिन्ता मत करो, बड़े होने पर सब ठीक हो जायेगा।" मैंने कहा – "इस समय तो इसे पालना ही बड़ा कठिन हो उठा है। जब-तब रास्ते पर चला जाता है, तालाब में जाकर उछल-कूद मचाता है। डर लगता है कि कहीं गाड़ी के नीचे न आ जाय, पानी में न डूब जाय। दया करके आप कुछ कर दीजिए, ताकि उसकी शरारतें कम हो जायँ।" माँ ने हँसकर अमूल्य को अपने पास बुलाया और दुलार से उसके सिर पर हाथ फेरती हुई बोलीं – "बहू, तुम्हारा अमूल्य अब पहले की तरह शरारतें नहीं करेगा।" बड़े आश्चर्य की बात है, उसके बाद से कभी उसे तालाब में उछल-कूद करते नहीं देखा गया।

एक बार उनके (मेरे पतिदेव) हाथ में एक मुट्ठी चावल देकर माँ ने कहा था – "इसे अपने घर के चावल के कोठे में रख देना, तुम लोगों को मोटे अन्न की कभी कमी नहीं होगी।" माँ ने उन्हें अपने केश, नाखुन और पहने हुए वस्त्र दिये थे। हमारे घर में नित्य पूजा होती है।[१] माँ ने एक दिन उनसे कहा था – "तुम्हें भय ही क्या है? तुम्हारी ठाकुर की गृहस्थी है। शोक, दुख, रोग, व्याधि किसके परिवार में नहीं है? वह सब तो रहेगा ही। ठाकुर की कृपा से वह सब तुम्हें स्पर्श नहीं कर पायेगा।" हमारे जीवन में कई बार शोक[२] के बड़े-बड़े अवसर आये हैं, पर देखा है ठाकुर और माँ के आशीर्वाद से मेरे टूट जाने पर भी वे कभी नहीं टूटे। तब समझी कि माँ के आशीर्वाद से ही तो ऐसा हुआ।

मेरे पति के साथ मेरे देवर लालमोहन दत्त भी माँ के घर जाते। वे 'उद्बोधन कार्यालय' में स्वयंसेवक थे। वे विभिन्न स्थानों पर जा-जाकर उद्बोधन की किताबें बेचते। पहले तो वे और बाद में उनके बाल-बच्चे भी हमारे साथ ही रहने लगे। उन्हें भी माँ का बड़ा स्नेह मिला। उन्होंने माँ से कहा था – "माँ, आशीर्वाद दीजिये कि अपनी कमाई खाते हुए ही मेरी देह जाये।" वही आशीर्वाद उन्हें मिला। उद्बोधन में ही कार्य करते हुए ५१ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हुआ।

अपने अन्तिम समय में माँ बहुत बीमार हो गयी थीं। आखिरी बार जब माँ जयरामवाटी से कलकत्ता आयीं, उस समय माँ का स्वास्थ्य इतना खराब हो चुका था कि उन्हें देखकर पहचानना मुश्किल था। माँ की चिकित्सा में शरत् महाराज ने कुछ उठा नहीं रखा। होम्योपैथी, वैद्यकी, एलोपैथी – हर तरह की चिकित्सा हुई। कलकत्ते के डॉक्टर नीलरतन सरकार को भी दिखाया गया। लेकिन किसी भी चिकित्सा से माँ को स्वस्थ नहीं किया जा सका। दशा क्रमशः बिगड़ती जा रही थी। अन्तिम दिनों में इन्दु के पिता कई दिन घर नहीं लौटे, माँ के यहाँ ही रहते। एक दिन (२१ जुलाई, १९२०) भोर में वे घबराये हुए आये और हम लोगों को आवाज दी। रोते हुए वे बोले – "माँ नहीं रहीं! तुम लोग जाकर आखिरी बार उनकी चरणधूलि सिर पर ले लो।" मैं जोरों से रो पड़ी। उनके भी दोनों नेत्रों से लगातार आँसू बहे जा रहे थे। मैं और इन्दु पागलों की भाँति उद्बोधन गये। माँ का शरीर उन्हीं के कमरे में खाट के ऊपर रखा गया था। उनकी देह फूल-मालाओं से ढँकी हुई थी। साधु-ब्रह्मचारी तथा दल-के-दल भक्त आकर माँ को अपना अन्तिम प्रणाम निवेदित कर रहे थे। सभी के नेत्रों में आँसू थे। परिवेश में चारों ओर एक महा-विषाद का गम्भीर भाव छाया था। मैंने और इन्दु ने माँ के चरणों में अन्तिम प्रणाम किया। साधु लोगों में से किसी ने कहा – "चन्द्रबाबू की पत्नी को माँ का एक चरण-चिह्न दो।" माँ के चरणों में आलता लगाकर नये कपड़े पर छाप लिया गया। माँ का वह महा-मूल्यवान स्मृति-चिह्न कोई लाकर मेरे हाथों में दे गया। मैंने उसे ले तो लिया, पर लेते ही मेरी छाती में ऐंठन होने लगी। एक बार लगा – क्या माँ सचमुच ही चली गयी हैं? हृदय मानो विदीर्ण हो रहा था। कुछ देर बाद मैं घर की ओर चली। उस समय माँ के घर में खड़े रहने की भी जगह न थी। सभी भक्तों को सूचना मिल चुकी थी। घर में लोगों की भीड़ एकत्र हो गयी थी। सबकी आँखों से आँसू बह रहे थे। फूट-फूटकर रोते हुए इन्दु का हाथ पकड़े मैं माँ के घर से चली आई। लगा कि अपने घर में सभी तो हैं, माँ के घर में भी माँ के सिवा सभी हैं, परन्तु मेरे लिए पूरा विश्व ही शून्य हो चुका है। ❖ (क्रमशः) ❖

जन्म-शताब्दी वर्ष के अवसर पर

ठुकरा दो या प्यार करो

सुभद्रा कुमारी चौहान

देव, तुम्हारे कई उपासक, कई ढंग से आते हैं।
सेवा में बहुमूल्य भेंट, वे कई रंग की लाते हैं॥
धूमधाम से साज-बाज से, मन्दिर में वे आते हैं।
मुक्ता-मणि बहुमूल्य वस्तुएँ लाकर तुम्हें चढ़ाते हैं॥
मैं ही हूँ गरीबिनी ऐसी, जो कुछ साथ नहीं लाई।
फिर भी साहस कर मन्दिर में, पूजा करने को आई॥
धूप-दीप-नैवेद्य नहीं है, झाँकी का शृंगार नहीं।
हाय, गले में पहनाने को, फूलों का भी हार नहीं॥
कैसे स्तुति करूँ तुम्हारी, है स्वर में माधुर्य नहीं।
मन का भाव प्रकट करने को वाणी में चातुर्य नहीं॥
नहीं दान है, नहीं दक्षिणा, खाली हाथ चली आई।
पूजा की विधि नहीं जानती, फिर भी नाथ चली आई॥
पूजा और पुजापा प्रभुवर, इसी पुजारिन को समझो।
दान, दक्षिणा और निछावर, इसी भिखारिन को समझो॥
मैं उन्मत्त प्रेम की लोभिन, हृदय दिखाने आई हूँ।
जो कुछ है बस यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ॥
चरणों पर अर्पित है, इसको चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो॥

१. लेखिका के कनिष्ठ पुत्र कार्तिक चन्द्र ने बताया – "मेरी माँ के देहत्याग (२५ मई, १९७५) के एक माह पूर्व वह सब पूजाघर से चोरी हो गया। मृत्यु के समय मेरी माँ की उम्र ८८ वर्ष थी।"

२. कार्तिक चन्द्र ने बताया कि उनकी दीदी इन्दुबाला की आयु के २४वें वर्ष में उसके पति गायब हो गये और फिर कभी घर लौटकर नहीं आये। उसके बड़े भाई (अमूल्य) का केवल ४० वर्ष की आयु में निधन हो गया। उनकी माँ को ये दो शोक सहन करने पड़े थे।

अभय-दायिनी माँ सारदा

स्वामी गौतमानन्द

(विवेकानन्द विद्यापीठ, रायपुर में श्रीमाँ सारदा देवी के एक सौ पचासवीं वर्षगाँठ के अवसर पर आयोजित परिसंवाद में मुख्य अतिथि के रूप में रामकृष्ण मठ, चेन्नई के अध्यक्ष तथा रामकृष्ण मठ व मिशन, बेलूड़ मठ के एक न्यासी स्वामी गौतमानन्द जी ने जो व्याख्यान दिया था, यह उसी का अनुलेखन है । इसे टेप पर से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री वीरेन्द्र वर्मा ने सम्पन्न किया है । – सं.)

माँ के जीवन में हमें एक बात विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है और वह है उनका अभय-प्रदान । जो कोई उनके पास जाता था, उसको वे अभय-दान देती थीं – डरो मत, डरो मत । आखिरी तक उनके पास जो भी गया, जो भी डरते-डरते गया कि मैं इतना कमजोर हूँ, इतना बड़ा काम कैसे कर सकूँगा, उनसे मिलकर वापस आते ही वह अपूर्व विश्वास से भरा हुआ कहता – मैं यह कार्य कर सकता हूँ । तब ब्रिटिश साम्राज्य के विरोध में, आजादी की लड़ाई चल रही थी और इस स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेनेवाले अनेक सेनानी माताजी के पास आकर उनसे प्रेरणा प्राप्त कर नए उत्साह तथा जोश से अपने कार्य में लग जाते थे । माताजी उनसे कहतीं – डरो मत, जाओ, विजय प्राप्त करो । माताजी कहतीं कि इन लड़कों में श्रीरामकृष्ण देव ने ऐसा जोश भर दिया है, स्वामी विवेकानन्द ने ऐसा उत्साह भर दिया है कि देखकर मुझे बड़ा आनन्द होता है । माँ के पास जो भी जाता, उसके भीतर वे अभय भर देतीं – इस दुनिया और खास कर भारत के उद्धार हेतु भगवान श्रीरामकृष्ण का अवतरण हुआ है, जीवन में उनका अनुसरण करने की चेष्टा करो, तो तुम्हारे जीवन में कोई शंका नहीं रहेगी । तुम जरूर आगे बढ़ोगे ।

एक बार एक महिला माँ के पास आती है । वह डरते-डरते उनके पास पहुँचती है, उससे ऐसा कुछ काम हुआ है कि वह एकदम ग्लानि से भरी हुई है । कहती है – "माँ, मैं तुम्हारे पास आने के लायक नहीं हूँ, मुझसे गलती हुई है ।" माँ उसे अपनी बाँहों में भरकर अपने पास बैठाती हैं और कहती हैं – "आओ बेटी, तुमने क्या बुरा काम किया है और जो भी किया है, उसके लिए तुमने पश्चाताप किया है, पुराने जीवन को भूल जाओ । मैं तुम्हें मंत्रदीक्षा देती हूँ । ठाकुर तुम्हें जीवन में आगे बढ़ाएँगे ।" माताजी तत्काल उस महिला को मंत्र देती हैं और उसका जीवन बदल जाता है । वह इतने भय, इतनी आशंका के साथ आई थी, लौटते समय माँ का अभय-दान लेकर आनन्दपूर्वक वापस लौटी ।

बहुत-से मनो-चिकित्सक हैं, जिनके पास अनेकों मनोरोगी आते हैं । उनमें से अधिकांश के पास किसी अपवित्र विचार का अपराध-बोध रहता है, जिससे छुटकारा पाना बड़ा कठिन है । वर्षों इलाज कराने पर भी यह अपराध-बोध नहीं जाता । माँ सारदा देवी के जीवन में ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, जिनसे पता चलता है कि वे क्षण भर में ही भक्तों के मन में आत्म-विश्वास भर देतीं थी । उनमें एक ऐसी अनुपम शक्ति थी । वे स्नेह की, आनन्द की एक ऐसी समुद्र थीं, जिसके पास कोई कैसी भी गलती करके जाय, उस सागर की एक बूँद प्राप्त होते ही स्वयं को भी उस दैवी शक्ति का एक अंश समझने लगता था । श्रीमाँ में ऐसी ही असीम शक्ति थी ।

एक गृहिणी माँ से पूछती है – "मैं बचपन से ही विधवा हो गयी थी, मैं आध्यात्मिक जीवन के बारे में कुछ नहीं जान पायी हूँ; मेरा क्या होगा माँ?" माँ कहती हैं – "अपना पुराना जीवन भूल जाओ, मैंने तुम्हें स्वीकार कर लिया है, मंत्रदीक्षा देकर आशीर्वाद दिया है, तुम्हारे जीवन में जितनी भी भूल-चूक हुई हैं, उनका भार ठाकुर ने ले लिया है, ऐसा सोचकर आनन्द से रहो ।" उस महिला का जीवन बदल गया । वह आनन्दपूर्वक माँ के साथ रहने लगी ।

एक भक्त महिला माँ के पास आती है । उसका भाई बड़ा बीमार है, शायद कैंसर जैसा कोई असाध्य रोग हैं । १९१८-१९ ई. में, तब आज जैसी ऑपरेशन आदि की सुविधा नहीं थी । वह माँ से बोली – "माँ ! भाई के इलाज के लिए ऑपरेशन की बात हो रही है । बहुत चिन्ता हो रही है । क्या जाने वह बचेगा या नहीं ! आपका आशीर्वाद लेने आई हूँ । इसी चिन्ता में मैं सारी रात सो नहीं सकी । आपकी कृपा चाहती हूँ ।" माँ ने उत्तर दिया – मान लो कि ऑपरेशन के बाद तुम्हारा भाई अच्छा हो गया, तो भी कभी-न-कभी तो उसका शरीर जाएगा ही, उसके लिए इतनी चिन्ता क्या बेटी? जब तुम उसकी चिन्ता करने के लिए नहीं रहोगी, तब क्या होगा? तब उसे कौन बचाएगा?" सुनकर उस महिला ने सोचा कि शायद उसका भाई जीवित नहीं बच सकेगा, क्योंकि माँ ने उसके बचने का आशीर्वाद नहीं दिया है । परन्तु माँ तो करुणा की सागर हैं । इसके बाद माँ ने कहा – "ठीक है, मैंने जो कहा उसे भी सोचो और ऑपरेशन की की जगह पर ठाकुर जी का फोटो भी लगा देना । वे ही तुम्हारे भाई की रक्षा करेंगे !" घर लौटकर उस महिला ने माँ से इस प्रकार आशीर्वाद मिलने की बात सबको कही, तो सभी निश्चिन्त हो गये और आनन्द से अभिभूत हो उठे । उन सभी के भीतर अभय का भाव प्रकट हुआ । माँ की इच्छानुसार ठाकुर जी का फोटो लगाकर ऑपरेशन सम्पन्न हुआ । वह मरीज एकदम स्वस्थ हो गया । ऐसी घटना क्या आपने कभी सुनी है? यह हुआ केवल माँ के अभय-प्रदान के फलस्वरूप ।

एक युवक माँ से दीक्षित था। वह कलकत्ता में रहता था। उसके मन में बड़े खराब विचार तथा कामनाएँ उठने लगीं। वह घबराकर अपनी गुरु माँ के पास जयरामवाटी गया। वह शाम को वहाँ पहुँचा था। रात वहाँ बिताकर सुबह माँ से विदा लेने पहुँचा। माँ अपने घर में बरामदे में बैठी हैं। वह युवक माँ को प्रणाम करके बोला – "माँ, मेरा मन बुरे विचारों तथा कामनाओं के कारण बड़ा दुखी है। मैं तुम्हारा शिष्य रहने के योग्य नहीं हूँ। इसीलिए अन्तिम विदाई लेने आया हूँ। अब मैं सदा-सदा के लिए जा रहा हूँ।" ऐसा कहकर वह माँ के चरणों का स्पर्श करके चलने लगा। माँ तत्काल उठकर खड़ी हो गईं और उस शिष्य-सन्तान के कन्धे पर हाथ रखकर बोलीं – "क्या कहा! अन्तिम विदाई! ऐसा क्यों कहते हो, बेटा! जरा मेरी ओर देखो तो।" उस युवक ने देखा। ऐसी करुणामयी, ऐसी अनुकम्पा-भरी, ऐसी कृपामयी आँखें कि उसके हृदय में भीतर तक समा गयीं। माँ बोलीं – "तुम्हारे मन में जो भी बुरे विचार उठते हैं, उनसे बिलकुल भी मत डरो। मेरा चिन्तन करो।" ऐसा कहकर माँ लौटकर अपने स्थान पर फिर बैठ गईं। वह युवक पैदल चलकर कलकत्ते पहुँचा। बाद में उसने बताया – "एक क्षण के लिए भी मैं माँ की उन करुणामयी, कृपामयी, अनुकम्पा-भरी आँखों को और उनकी इस अभय-वाणी को भूल नहीं सका – बुरे विचारों से डरो मत, मेरा चिन्तन करो।"

हमारे युवकों के लिए माँ का यही सन्देश है – "मन में जब भी बुरे विचार उठें, तो माँ का चिन्तन करो। माँ का चिन्तन सबसे बड़ी संजीवनी औषधि है, जो सब चिन्ताओं को समाप्त कर देती है। वह युवक कहता है कि न केवल कई दिन, न केवल कई सप्ताह, वरन् कई महीनों तक माँ की यह अभय-वाणी लगातार मेरे अन्तर में गूँजती रही। कुछ वर्षों के बाद उसे इतनी पवित्रता की अनुभूति होने लगी कि वह रामकृष्ण मिशन में आकर संन्यासी हो गया। तो यह है श्रीमाँ की शक्ति। बुरे भाव, बुरे विचार, बुरी कामनाएँ – यह इस आधुनिक युग का रोग है। यह बच्चों से लेकर वृद्धों तक को त्रस्त कर रहा है। इस महारोग के लिए माँ की उपरोक्त वाणी ही महा-औषध है।

फिर श्रीमाँ यह भी कहा करती थीं कि यदि कोई मुझे 'माँ' – सम्बोधित करके कुछ भी माँगे, तो मैं उसे 'नहीं' नहीं कर सकूँगी।" यह हमारे लिए माँ का सबसे बड़ा आश्वासन है। कभी-कभी हम किसी देवी-देवता से प्रार्थना करते हैं। कभी श्री ठाकुर से प्रार्थना करते हैं, पर कोई फल नहीं मिला, तब क्या करें? क्या बिल्कुल निराश हो जायँ? ईश्वर पर विश्वास छोड़ दें। नास्तिक हो जाएँ? नहीं। माँ ने उपाय दिया है – "यदि ठाकुर से कुछ नहीं मिला, तो मेरे पास आओ। मुझे 'माँ' कहो। मुझे पुकारो। तुम्हारी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी।"

मैं इसका एक उदाहरण देता हूँ। हमारे रामकृष्ण मिशन में पश्चिमी देशों के बहुत-से संन्यासी तथा भक्त हैं। उनमें से एक भक्त-महिला, जो विगत दिनों ९२ साल की उम्र में गुजर गयीं, उनका नाम था 'सिस्टर गार्गी'। वे एक धनाढ्य महिला थीं। अमेरिका में सेनफ्रांसिस्को नगर में स्थित हमारे 'वेदान्त-सोसायटी' के प्रमुख थे स्वामी अशोकानन्द जी। सिस्टर गार्गी उनकी शिष्या थीं। वे बड़ी बुद्धिमती थीं। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका तथा यूरोप-प्रवास पर छः खण्डों में एक महाग्रन्थ लिखा है। यह शोध-ग्रन्थ बड़ा ही अद्वितीय है। मायावती के अद्वैत आश्रम से प्रकाशित हुआ है। वे बड़ी विदुषी थीं। एक बार उन्होंने बेलूड़ मठ में एक व्याख्यान दिया। सौभाग्य से मैं भी वहाँ उपस्थित था। उस व्याख्यान में उन्होंने बताया था कि उनके जीवन में एक बड़ा संकट आया था। वह संकट यह था कि पहले वे विवाहित थी। जैसा कि अमेरिकी जीवन में अक्सर होता है, उसका विवाहित जीवन रसमय नहीं रह गया था और पति से तलाक हो गया। तलाक के कुछ वर्षों बाद उन्हें पति की चिन्ता होने लगी। शारीरिक रूप से पति से अलग रहने के बाद भी उन्हें पति की चिन्ता सताने लगी। वे ठाकुर से प्रार्थना भी करतीं थीं कि जिसके साथ जीवन न बिता सकी, उसकी चिन्ता उन्हें न सताए, परन्तु उनका वह कष्ट दूर नहीं हुआ। कई वर्षों तक जब उनका यह संकट दूर नहीं हुआ, तो उन्होंने सोचा – "ठाकुर जी मेरा यह कष्ट दूर नहीं कर सके, अब मैं माँ से प्रार्थना करती हूँ। सम्भव है यह संकट टल जाय। माँ से प्रार्थना करने के बाद, बड़े आश्चर्यजनक ढंग से मेरे मन में एक परिवर्तन आया और मैं अपने पति को भूल गई। उनके साथ के सभी रिश्तों, सम्बन्धों – सब कुछ भूल गई। मन केवल माँ के चरणों में लगा रहा। तब से यह जान गई हूँ कि जिसे श्री ठाकुर से नहीं मिलता, वह माँ के पास जाए, उसे अवश्य ही प्राप्त होगा।" स्मरण रहे कि यह एक पश्चिम की – अमेरिकी महिला का अनुभव है।

श्रीरामकृष्ण के जीवन की वह घटना भी स्मरणीय है। अपने शिष्य बाबूराम को रात में ज्यादा रोटी खिला देने पर वे माँ से नाराजगी व्यक्त करते हुए कहते हैं – "इससे बाबूराम के आध्यात्मिक उन्नति में बाधा आयेगी।" माँ तत्काल कहतीं हैं – "उसकी आध्यात्मिक उन्नति मैं देख लूँगी।" इस पर श्रीरामकृष्ण निरुत्तर रह गए। वे भी माँ के विषय में कहा करते थे – "वह आद्याशक्ति है। उसकी कृपा के बिना आध्यात्मिक शक्ति का, मुक्ति का रास्ता नहीं खुलेगा।" तो ऐसी हैं श्रीमाँ। इसलिए जब साधारण प्रार्थना के द्वारा हमें कष्ट से छुटकारा न मिल रहा हो, तो हम माँ के पास जायँ। एक बार करके देखें, तो माँ बता देतीं हैं – मैं कर सकूँगी। और माँ के जीवन के ऐसे असंख्य उदाहरण हैं।

१९१५-१६ ई. की बात होगी। बंगलोर में एक गृही भक्त थे। वे एक साधारण व्यापारी थे। नाम था राजगोपाल नायडू। उनकी एक दुकान थी। वे किसी काम से कलकत्ता गए और वहीं श्रीमाँ से उन्हें दीक्षा मिली। उन्होंने माँ से पूछा – "माँ मुझे अब क्या करना होगा।" माँ ने कहा – "जो कर रहे हो, वही करते रहो। पर हाँ, जैसा बताया है – सुबह-शाम मुझे पुकारते रहो, ठाकुर को पुकारते रहो। इतने से ही हो जाएगा।" राजगोपाल नायडू बड़े आनन्द से बंगलोर लौट आये। माँ के बताए निर्देशों के अनुसार व्यापार के साथ-साथ सुबह-शाम जप-ध्यान करने लगे। एक वर्ष के बाद उनके मन में सन्देह उठा कि वर्ष भर से लगातार सुबह-शाम प्रार्थना कर रहा हूँ, पर मेरी कोई आध्यात्मिक उन्नति तो कुछ दिखती नहीं। धन-सम्पति के लिए वैसा ही आकर्षण है। दुनियादारी कुछ कम नहीं हुई लगती है। वे कलकत्ते गये और श्रीमाँ से कहा – "माँ, मैं साल भर से आपके कहे अनुसार अपना काम भी करता रहा और सुबह-शाम भजन भी करता रहा, पर अपने जीवन में कोई उन्नति नहीं देख रहा हूँ।" माँ बोलीं - "बेटा, मैंने जो कहा है तुम सुबह-शाम प्रार्थना करते जाओ और अपना काम भी करते रहो, जो होने का है वह सब होगा। विश्वास करो। जाओ। अच्छे से रह रहे हो, अच्छे से रहो।" उनका विश्वास लौट आया कि माँ मेरे लिए सब कर रही हैं। वे बंगलोर लौटकर अपने काम में लग गये।

एक वर्ष और बीता। उन्हें फिर सन्देह हुआ और वे एक बार फिर माँ के पास पहुँचे। माँ ने पुन: आश्वासन दिया – "बेटा, तुम जो कर रहे हो, वही करते रहो। मैंने तुम्हारा भार लिया है। तुम्हें कोई डर नहीं है। जाओ, मैं हूँ। विश्वास करो।" इस बार उसे पूरा विश्वास हो गया। घर वापस आकर उन्होंने सब कुछ अपनी पत्नी को बताया और अनेक वर्षों तक पुन: अपनी दिनचर्या में लगे रहे।

श्रीमाँ की महासमाधि के अनेक वर्षों बाद लगभग १९४५-४६ ई. में उनके मन में बद्रीनाथ-केदारनाथ के दर्शन की इच्छा हुई। अपनी पत्नी और अन्य सम्बन्धियों के साथ बद्रीनाथ-केदारनाथ का दर्शन के पश्चात् उन्होंने अपनी पत्नी से कहा – "चलो, जल्दी हरिद्वार पहुँचना है।" हरिद्वार में वे सेवाश्रम के अतिथि-निवास में ठहरे थे। पत्नी ने कहा – "केदारनाथ में तीन-चार दिन रुकना है। सब रिश्तेदार भी यही चाहते हैं।" राजगोपाल नायडू बोले – "रिश्तेदारों को रुकने दो। हम-दोनो टैक्सी से वापस लौटते हैं।" दोनों हरिद्वार के आश्रम में वापस आये। शाम के समय तीन-चार बजे का समय रहा होगा। नायडू ने अपनी पत्नी से कहा – "इस समय आश्रम के स्वामीजी अपने गोशाला से गरीब बच्चों को दूध बाँटते हैं। तुम जाकर देख आओ। बड़ा अच्छा लगता है। गरीब बच्चों में शुद्ध दूध मुफ्त ही बाँटा जाता है। जाकर देखो।" पत्नी ने कहा – "आप भी चलिए, दोनों एक साथ जाकर देखेंगे।" वे बोले – "नहीं, तुम जाओ, मैनें कई बार देखा है। तुम जाकर देखकर आओ।"

नायडू की पत्नी ज्योंही कमरे से निकलकर थोड़ी दूर गई होंगी, तभी कमरे से जोर से आवाज आयी – 'माँ, माँ, माँ'। पत्नी को लगा कि पतिदेव बुला रहे हैं। वे दौड़कर आईं। उनके साथ-साथ आश्रम के संचालक स्वामी प्रज्ञानन्द जी भी आए। वे भी श्रीमाँ के शिष्य थे। और भी अनेक संन्यासी तथा अन्य लोग भी दौड़कर वहाँ पहुँचे। सबने आकर देखा कि राजगोपाल नायडू एक दूसरी ही अवस्था में हैं। उनका मन उच्च अवस्था में उन्नीत था, वे आकाश की ओर, छत की ओर देख रहे थे। लग रहा था मानो किसी दिव्य मूर्ति को देख रहे हों। उन्होंने – "'माँ-माँ', तुम आ गई" – ऐसा दो बार कहा और अपना शरीर छोड़ दिया।

उनकी पत्नी से सारी बातें ज्ञात हुई। बद्रीनाथ में देहत्याग हो जाने पर उनकी पत्नी को वहाँ बड़ी कठिनाई होती। अत: वे शीघ्रतापूर्वक हरिद्वार आये थे और गंगाजी के तट पर, साधुओं के बीच 'माँ-माँ' बोलते हुए, माँ का दर्शन करते हुए उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया। इसी के लिए तो माँ ने उन्हें अभय-दान दिया था – "बेटा, तुम अपना काम करो। भय की कोई बात नहीं। गृहस्थ हो तो क्या हुआ ! मैं हूँ न ! तुम चिन्ता मत करो।" तो ऐसी माँ हमारे पास हैं !

एक बार माँ ने कहा था – "यदि शान्ति पाना है, तो दुनिया के दोष मत देखो। और यदि देखना ही है तो अपने दोष देखो।" माताजी का यह कहने का क्या अभिप्राय था? दुनिया में यदि हम दोष न देखें, तो क्या दोष न रहेंगे। दोष तो रहेंगे ही। फिर इन दोषों के बीच हम कैसे रहें? – दुनिया को प्रेम की दृष्टि से देखो। बच्चों में क्या दोष नहीं रहते? – रहते हैं, पर हम उन्हें प्रेम से देखते हैं, अत: दोष दिखते नहीं। हम उन दोषों पर ध्यान नहीं देते। उन्हें प्रेम देते हैं। यही हमारे आचरण में होना चाहिए। **यदि हम दुनिया को प्रेम की दृष्टि से देखेंगे, तो हमें किसी के दोष नहीं दिखेंगे।** किसी के दोषों से हम विचलित नहीं होंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि माँ का द्वार सबके लिए खुला है। हमे उन पर विश्वास रखना होगा। सबके दरवाजे आपके लिए तभी खुले रहते हैं, जब आप धनवान हों, परन्तु यदि बदकिस्मती से आप निर्धन हो जाते हैं, तो देखेंगे कि आपके जितने भी मित्र थे, सब इधर-उधर मुँह छिपाने लगते है। स्वामी विवेकानन्द जी के जीवन में यही हुआ। जब वे कष्ट में पड़े, जब उनके जीवन में दुर्दिन आए, किसी मित्र ने उनका साथ नही दिया।

ऐसे दुर्दिन के समय में भी केवल एक द्वार कभी बन्द नहीं होता। श्रीमाँ ने कहा – ठाकुर जी का द्वार हमेशा खुला रहता है। एक भक्त-महिला माँ के पास जाने को बड़ी इच्छुक

थी। सुबह उठकर वह घर-गृहस्थी का काम पूरा करती थी। फिर घर से उद्‌बोधन कार्यालय (कलकत्ता में माँ का आवास) तक पहुँचते-पहुँचते साढ़े बारह-एक बज जाता। माँ तब तक भोजन आदि करके विश्राम के लिए चली जातीं। ऐसा कई बार हुआ। वह जब भी उद्‌बोधन पहुँचती, माँ विश्राम करती रहतीं। माँ से उसकी भेंट नहीं हो पाती। ऊपर से गोलाप-माँ कहतीं – "तुम अपने को माँ की भक्त कहती हो। तुम्हें इतना भी ख्याल नहीं है कि यह माँ के विश्राम का समय है। उनसे मिलने तुम अब आई हो!" इस प्रकार वह कई दिनों तक लगातार माँ से मिलने आती रही, पर घर के कार्यों के कारण वह सदा विलम्ब से पहुँचती और उसकी श्रीमाँ से भेंट नहीं हो पाती। एक दिन जब वह गोलाप-माँ से डाँट खा रही थीं, उसी समय माँ ने उसे देखा और अपने पास बुला लिया। माँ ने उसे अपने कमरे में बिठाया और कहा – "गोलाप की बातों का ख्याल मत करना। वह लोगों को रोककर, मुझे थोड़ा विश्राम देने के लिए अपनी ड्यूटी करती है।" उसके बाद माँ उस भक्त-महिला से बोलीं – "यह ठाकुर जी का साम्राज्य है। यह उद्‌बोधन आश्रम ठाकुर जी के साम्राज्य का द्वार है। यह द्वार हर व्यक्ति के लिए, हमेशा खुला रहेगा। इसलिए कभी यहाँ आने के लिए हिचकना नहीं, गोलाप या कोई और कुछ भी कहे। जब भी इच्छा हो, यहाँ आ जाना। यहाँ तुम्हारा सदा स्वागत है।"

माताजी का इतना बड़ा आश्वासन है। यह ठाकुर जी का साम्राज्य है और यहाँ का द्वार हर समय, हर किसी के लिए खुला है। यहाँ सबका स्वागत है। कोई यौवन में आयेगा, कोई अधेड़ अवस्था में पहुँचेगा और कोई वृद्धावस्था में यहाँ आयेगा। हर एक के लिए यह दरवाजा सदैव खुला है। यही माताजी का सन्देश है। इसे हम सदैव ध्यान में रखें। दिन में ऐसा कोई क्षण नहीं है, जब हम माँ के पास नहीं जा सकते। हर समय जा सकते हैं और जीवन में आगे बढ़ सकते हैं।

माताजी के सन्देश सबके लिए हितकारी हैं। जो भी इसे सुनता है, उसका भय दूर हो जाता है। जीवन में उत्साह आ जाता है और माँ कहती हैं – "तुम्हारे जीवन में अन्य कोई मदद करने के लिए रहे या न रहे, पर हमेशा याद रखना कि एक माँ सदैव तुम्हारे साथ है।

यह माँ का अभय-दान है। अपने जीवन के अनेक प्रसंगों के माध्यम से उन्होंने बारम्बार हमें बताया है कि अभय प्रदान करने के लिए वे सदैव हम सबके साथ हैं। ❑❑❑

श्रीमाँ की अद्‌भुत कृपा

प्रव्राजिका प्रबुद्धप्राणा

श्रीमाँ सारदा देवी के द्वारा 'दीन-दुखियों की सेवा में ईश्वर की सेवा' आज भी अबाध रूप से चल रही है। वे लोगों को अपने उपदेशों के द्वारा उत्साहित और निर्भय करती थीं। जो लोग उनका जीवन-चरित तथा उपदेश पढ़ते हैं, उन्हें वे आज भी दर्शन देती हैं। असंख्य भक्तों-शिष्यों के माध्यम से आज भी वे सर्वत्र सेवा कर रहीं हैं।

लखनऊ में जहाँ रामकृष्ण मिशन का नया मन्दिर तथा अस्पताल है, कुछ वर्ष पूर्व वहाँ एक मजदूर की स्त्री अपनी पुत्री को लेकर अस्पताल में आयी। उस लड़की के मुँह पर फफोलेदार घाव हो गया था। एक एलोपैथ डॉक्टर ने चिकित्सा की, परन्तु उससे उसका घाव और भी बढ़ गया। अन्य डॉक्टरों ने भी होम्योपैथिक तथा आयुर्वेदिक चिकित्सा की, लेकिन उससे भी कुछ लाभ नहीं हुआ। अन्त में वे दोनों निराश होकर रोते-रोते अस्पताल छोड़कर चली गयीं। दो-एक सप्ताह बाद वह मजदूर-महिला प्रसन्न मुद्रा में पुनः उपस्थित हुई। उसकी पुत्री के मुँह पर का घाव पूर्णतः ठीक हो गया था। यह घाव कैसे ठीक हुआ? यह बताते-बताते उसकी आँखों से आनन्दाश्रु टपकने लगे।

वह अपनी विलक्षण घटना सुनाने लगी – "अद्‌भुत बात हुई! अल्ला की कृपा! अस्पताल से आखिरी बार रोते-रोते निराश होकर घर वापस गयी। उस दिन रात में रोते-रोते सो गयी। एक सपना दिखा – श्रीमाँ ने मेरे पास आकर मुझे रोने से मना किया। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया कि यदि तुम्हारी बच्ची कुरान की यह खास पंक्ति बोलते-बोलते पानी पीये, तो वह पूरी तौर से ठीक हो जायेगी। माँ ने स्वयं ही वह पंक्ति बता दिया। सबेरे उठकर मैंने उनके निर्देश का पालन किया। दिन-पर-दिन घाव ठीक होता गया।"

('जन्म-जन्मान्तरेर-माँ' नामक बँगला ग्रन्थ से)

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

– ३५ –

अवधूत के उपगुरु

गुरु एक ही होता है, परन्तु उपगुरु अनेक हो सकते हैं। जिनसे भी कुछ शिक्षा प्राप्त हो, उन्हें उपगुरु कहा जा सकता है। श्रीमद् भागवत में लिखा है कि मुनि दत्तात्रेय अवधूत ने इस प्रकार २४ गुरु किये थे।

चील से सीखा भोग्य-वस्तुओं का त्याग

अवधूत ने चौबीस गुरुओ में चील को भी एक गुरु माना था। एक जगह मछुवारे जाल फेंक कर मछलियाँ पकड़ रहे थे। एक चील ने झपट्टा मारा और उनके संग्रह में से एक मछली उठा ले गयी। चील के चोंच में मछली को देखकर सैकड़ों कौए काँव-काँव करके शोर मचाते हुए उसके पीछे लग गए। मछली को लिए चील जिधर भी जाती, कौए भी उसके पीछे-पीछे उधर ही पहुँचकर उसे नोचने-खसोटने का प्रयास करते। चील दक्षिण की ओर गयी, तब कौए भी उसी ओर गये; जब वह उत्तर की तरफ गयी, तब वे भी उसी ओर गये। चील इसी प्रकार पूर्व तथा पश्चिम की ओर भी चक्कर लगा आयी। पर कौए तो आखिर कौए ही हैं, उन्होंने इसका पीछा बिल्कुल भी नहीं छोड़ा। घबराहट में मछली उसके चोंच से छूटकर नीचे जमीन की ओर गिरने लगी। पर इसी बीच एक दूसरी चील ने उसे पकड़ लिया। अब कौओं का हुजूम इस नयी चील के पीछे लग गया।

थकी-माँदी पहली चील अब निश्चिन्त होकर एक पेड़ की डाल पर जा बैठी और सोचने लगी, "सारे झंझट की जड़ वह मछली ही थी; अब वह मेरे पास नहीं है, इसीलिए मैं निश्चिन्त होकर आराम से बैठ सकती हूँ।"

अवधूत ने निरापद बैठी उस चील को मन-ही-मन गुरु मानकर उसे प्रणाम किया। उससे उन्हें यह शिक्षा मिली कि जब तक साथ में मछली अर्थात् कामना रहेगी, तब तक कर्म भी रहेगा और कर्म के कारण चिन्ता तथा अशान्ति भी रहेगी। कामना का त्याग होते ही कर्मों का भी क्षय हो जाता है और तभी व्यक्ति को शान्ति मिलती है।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "परन्तु निष्काम कर्म अच्छा है। उससे अशान्ति नहीं होती। पर निष्काम कर्म कर पाना बड़ा कठिन है। व्यक्ति सोचता है कि मैं निष्काम कर्म कर रहा हूँ, पर न जाने कहाँ से कामना निकल पड़ती है, यह समझ में ही नहीं आता। यदि पहले की खूब साधना हो, तो उसके बल पर कोई-कोई निष्काम कर्म कर सकते हैं। ईश्वर-दर्शन के बाद तो अनायास ही निष्काम कर्म किए जा सकते हैं। ईश्वर-दर्शन के बाद प्राय: कर्म छूट जाते हैं। केवल (नारद आदि) दो-एक जन ही लोक-शिक्षार्थ कर्म करते हैं।

मधुमक्खी से सीखा – संचय करना व्यर्थ है

अवधूत ने मधुमक्खी को भी गुरु माना था। मधुमक्खी बड़े परिश्रम से बहुत दिनों तक मधु-संचय करती है, परन्तु उसका छत्ता मधु से भर जाने पर वह स्वयं उस मधु का भोग नहीं कर पाती। कोई दूसरा ही आकर उसका छत्ता तोड़कर शहद उठा ले जाता है।

इससे अवधूत को यह शिक्षा मिली कि संचय का परिणाम क्या होता है, अत: मुझे धन आदि का संचय नहीं करना चाहिए। साधु-सन्तों को सोलहों आने ईश्वर पर ही निर्भर रहना चाहिए। उन्हें संचय न करना चाहिए।

परन्तु श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "यह गृहस्थों के लिए नहीं है। गृही को परिवार का भरण-पोषण करना पड़ता है, अत: उन्हें संचय की जरूरत पड़ती है। पक्षी और सन्त संचयी नहीं होते, परन्तु चिड़ियाँ बच्चे देने पर संचय करती हैं – चोंच में दबाकर बच्चे के लिए खाना ले आती हैं।"

शिकारी से सीखा – चित्त की एकाग्रता

अवधूत एक दिन मैदान से होकर जा रहे थे। उन्होंने देखा कि सामने से बड़े सज-धज तथा गाजे-बाजे के साथ एक बारात चली जा रही है। और दूसरी तरफ उनका ध्यान गया, तो उन्होंने देखा कि एक शिकारी बड़े एकाग्र मन से अपने लक्ष्य पर निशाना साधे बैठा है। बरात के साथ जो बाजा-गाजा हो रहा था, उसे उसने न तो देखा और न उसे कुछ सुनाई ही दिया। अवधूत ने उसे मन-ही-मन गुरु माना और प्रणाम करते हुए बोले – "जैसे आपका मन अपने शिकार पर एकाग्र हो गया था, वैसे ही जब मै ईश्वर का ध्यान करने बैठूँ, तो मेरा चित्त इधर-उधर न दौड़कर आपके समान ही ईश्वर में तन्मय हो जाय।"

बगुले से सीखा – अपने लक्ष्य पर ध्यान रखना

एक सरोवर के छिछले जल में एक पाँव पर खड़ा हुआ एक बगुला धीरे-धीरे एक मछली पर ध्यान लगाकर उसे पकड़ने के लिए अग्रसर हो रहा था। उसके पीछे-पीछे चलता हुआ एक शिकारी भी अपने धनुष-बाण से उस बगुले को

निशाना बना रहा था, परन्तु बगुले का ध्यान उस ओर बिल्कुल भी नहीं गया। अवधूत ने उसे गुरु स्वीकार किया और कहा – "मैं भी जब अपने प्रभु का ध्यान करूँ, तो मेरा चित्त उन्हें छोड़कर आगे-पीछे, इधर-उधर कहीं भी न जाय।"

मछुवारे से सीखा – सिद्धि मिलने तक सब अनसुना करना

चलते-चलते एक दिन एक अनजान जगह पर पहुँचकर अवधूत ने देखा कि वहाँ तालाब के किनारे एक मछुवा अपनी बंसी में चारा लगाकर मछलियाँ पकड़ने बैठा है। उसके निकट जाकर उन्होंने पूछा, "भाई, अमुक स्थान पर पहुँचने के लिए किधर से जाना होगा?" परन्तु मछुवारा अपने काम में ऐसा तन्मय था कि अवधूत के प्रश्न की ओर उसका ध्यान ही नहीं गया। वह पूरी एकाग्रता के साथ एकटक अपनी उस बंसी की ओर ही देख रहा था। मछली के आकर कँटिया निगल लेने के बाद उसने मुड़कर पीछे की ओर देखा और बोला, "हाँ, तो आप क्या कह रहे थे?"

अवधूत ने उसे अपने एक अन्य गुरु के रूप में प्रणाम करते हुए कहा – "जब मैं अपने इष्टदेव के ध्यान में बैठूँ, तो कार्य सिद्ध होने तक मेरा मन इसी प्रकार किसी की बातों पर न जाय, कि कौन क्या कह रहा है।"

– ३६ –

चोर का साधु में रूपान्तरण

एक रात एक चोर राजमहल में चोरी करने की नीयत से उसमें सेंध लगाकर अन्दर घुस गया। धन-दौलत की खोज करते हुए वह अनजाने में ही सहसा राजा के शयन-कक्ष के पास जा पहुँचा। उस कमरे में रोशनी जल रही थी और कुछ बातचीत की आवाज भी आ रही थी। वह अपनी उत्सुकता को न रोक सका। उसने पास जाकर खिड़की से कान लगा दिये। राजा और रानी आपस में कोई गम्भीर चर्चा कर रहे थे। राजा कह रहे थे, "देखो जी, राजकुमारी अब बड़ी हो रही है। कोई सुयोग्य वर तो मिला नहीं, गंगाजी के किनारे बहुत-से सन्त-महात्मा ठहरे हुए हैं। कल सुबह उन्हीं में से किसी एक को देखकर राजकुमारी को ब्याह देंगे।"

चोर ने सोचा – "यह तो बड़ा सुनहरा मौका है, क्यों न मैं कल सुबह साधु की वेशभूषा धारण करके गंगातट पर उपस्थित रहूँ! अगर भाग्य ने साथ दिया तो राजकुमारी के साथ विवाह करके मैं मालामाल हो जाऊँगा।" यही सोचता हुआ वह अपना मूल कार्य भूल गया और अपने ही बनाये हुए सेंध से वापस लौट गया।

अगले दिन वह बड़े सबेरे उठा और साधु-महात्माओं का-सा वेश बनाकर गंगाजी के किनारे चल पड़ा। अन्य सन्तों के बीच एक अच्छी-सी जगह देखकर उसने भी अपना आसन जमा दिया। थोड़ी देर बाद राजा के आदेश पर उनके कर्मचारी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने साधुओं के समक्ष राजपुत्री के साथ विवाह करने का प्रस्ताव रखा, परन्तु कोई भी महात्मा राजी नहीं हो रहे थे।

आखिरकार वे लोग उस साधु-वेश में आसीन चोर के पास भी जा पहुँचे और उसके सामने भी वही प्रस्ताव रखा। परन्तु चोर की तो खुशी के मारे बोलती ही बन्द हो गयी थी, अतः वह मौन ही धारण किये बैठा रह गया।

राज-कर्मचारी लौटकर राजा के पास गये और बताया – "साधु-महात्माओं में से कोई राजी तो नहीं हो रहा है, परन्तु एक युवा साधु हैं, वे मौन ही रहे, हो सकता है कि वे तैयार हो जायँ। अन्य किसी से तो कोई आशा नहीं है।"

तब राजा स्वयं ही साधु-वेशधारी उस चोर के पास आए और तरह-तरह से उसके सामने आवेदन-निवेदन करने लगे। राजा के स्वयं आ जाने पर चोर के मन में परिर्वतन आया। वह मन-ही-मन सोचने लगा, "अभी तो मैंने साधु का केवल वेश भर धारण किया है और इतने से ही राजा स्वयं आकर मेरी इतनी खुशामद कर रहे हैं, इतना गिड़गिड़ा रहे हैं, तो यदि मैं वास्तव में ही साधु बन जाऊँ तो मुझे और भी न जाने क्या-क्या देखने को मिलेगा!"

इस विचार ने उसे इतना झकझोर डाला कि उसने दृढ़ता के साथ विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और वह एक सच्चा साधु बनने की चेष्टा में लग गया। उसने आजीवन विवाह नहीं किया और साधना में लग गया। आगे चलकर वह एक बड़े महात्मा के रूप मे प्रसिद्ध हुआ।

तो ऐसी है सत्संग की महिमा! थोड़ी देर तक साधु का वेश पहनकर महात्माओं के बीच बैठने से चोर का मन इतना बदल गया! कभी-कभी महात्माओं की नकल करते-करते ही असल 'वस्तु' की प्राप्ति हो जाती है।

❖ (क्रमशः) ❖

तुम रात को आकाश में कितने तारे देखते हो, परन्तु सूरज उगने के बाद उन्हें देख नहीं पाते। किन्तु इस कारण क्या तुम यह कह सकोगे कि दिन में आकाश में तारे नहीं होते! हे मानव, अज्ञान-अवस्था में तुम्हें ईश्वर के दर्शन नहीं होते इसलिए ऐसा न कहो कि ईश्वर हैं ही नहीं। *– श्रीरामकृष्ण*
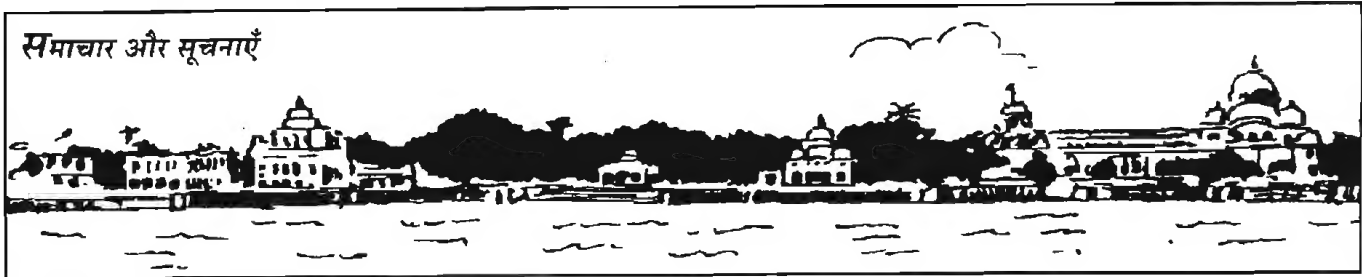
श्रीमाँ सारदा देवी पर प्रदर्शनी का उद्घाटन

रविवार, ९ मई, २००४ को श्रीरामकृष्ण आश्रम, मैसूर में आयोजित श्रीरामकृष्ण की अनन्य सहधर्मिणी श्रीमाँ सारदा देवी की १५० वें जन्म-वर्ष की स्मृति में राष्ट्रव्यापी प्रदर्शनी के उद्घाटन के अवसर पर जनसभा को सम्बोधित करते हुए कर्नाटक राज्य के महामहिम राज्यपाल श्री टी. एन. चतुर्वेदी ने कहा – "श्रीमाँ सारदा देवी का जीवन था - श्रीरामकृष्ण के उपदेशों का जीवन्त दृष्टान्त। उनके अत्यन्त मृदु व्यक्तित्व के पीछे से उनके गहन आध्यात्मिक बोध से उत्पन्न शान्ति एवं प्रशान्ति विकिरित होती रहती थी। वे अपनी ही पद्धति से जीवन की दोनों अतियों के बीच सामंजस्य स्थापित कर पाती थीं।"

इसके पहले आश्रम के ग्रन्थालय कक्ष में आयोजित 'श्रीमाँ सारदा-दर्शन' शीर्षक से संज्ञित प्रदर्शनी को देखकर महामहिम राज्यपाल ने इस प्रकार की अनुपम प्रदर्शनी के निर्माण के लिए आश्रम के प्रयास की सराहना की। उन्होंने कहा – "यह प्रदर्शनी केवल श्रीमाँ के जीवन और उनकी शिक्षाओं की प्रभावी व्यक्तित्व की रूपरेखा को ही चित्रित नहीं करती, अपितु उन आदर्शों को भी अभिव्यक्त करती है, जिनका उन्होंने मौन तथा अदृश्य रूप से साकार किया। महामहिम राज्यपाल ने रामकृष्ण मिशन के परमाध्यक्ष स्वामी रंगनाथानन्द जी द्वारा प्रणीत 'Enlightend Citizenship' नामक पुस्तक के श्री चन्ना वसप्पा कृत कन्नड़ अनुवाद 'आदर्श नागरिक' का विमोचन भी किया।

वरिष्ठ संन्यासी तथा आश्रम के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वामी सुरेशानन्द जी ने कार्यक्रम की अध्यक्षता की। उन्होंने कहा कि श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा देवी और स्वामी विवेकानन्द के पवित्र संगम में श्री माँ सारदा देवी की भूमिका गुप्तगामिनी सरस्वती की भाँति थी, जो शान्त परन्तु शक्तिशाली है।

वी.वी.एन. स्नातक महाविद्यालय के प्राध्यापक डॉ. एच. एन. मुरलीधर ने कन्नड़ भाषा में प्रदत्त अपने व्याख्यान में कहा – "सम्पूर्ण जगत को एक बनाने में श्रीमाँ सारदा का सन्देश शून्य से उत्पन्न नहीं था, बल्कि उनके स्वयं के जीवन में आचरण किया गया था, उनसे विलक्षण जीवन दूसरे किसी का नहीं था। अच्छे और बुरे सभी उनकी सन्तान थे।"

श्रीरामकृष्ण आश्रम, मैसूर के अध्यक्ष स्वामी आत्मविदानन्द जी ने आतिथियों का स्वागत किया और प्रदर्शनी के विविध पहलुओं से सबको अवगत कराया।

जेल के कैदियों के बीच रामकृष्ण मिशन

रामकृष्ण मिशन, मालदा के सम्पर्क में आकर जेल से छूटे कुछ लुटेरे कैदियों में से किसी ने सैलून खोला है, तो कोई रिक्शा चला रहा है और किसी ने उपकरण लेकर मिस्त्री का पेशा अपनाया है। मालदा में सफल होने के बाद, अब मिशन हावड़ा जेल में कैदियों से सम्पर्क बढ़ाने में लगा है। स्वामी दिव्यानन्द जी कहते हैं - "अनेक कैदी समाज में सामान्य जीवन जीने के इच्छुक हैं। हम लोग हावड़ा में ही उन लोगों की सहायता करने को तत्पर हैं। क्रमशः कैदियों में जन-स्वास्थ्य के प्रति चेतना जागृत की जायेगी।" महिला-कैदियों को भी स्वावलम्बी बनाने की योजना है।

हावड़ा जेल में कैदियों को स्वावलम्बी बनाने के लिये, यही प्रथम गैर-सरकारी संस्थान अग्रसर हुआ है, जिसके नेतृत्व में कैदियों को ये सब कार्य सिखलाये जायेंगे। इस क्षेत्र में स्वामी दिव्यानन्द जी को पर्याप्त अनुभव है। वे दिन-रात प्राणपण से लोगों को लिखना-पढ़ना सिखा रहे हैं। मालदा सेन्ट्रल-जेल में कैदियों के लिए इन्होंने ही स्कूल शुरू किया था। अनेक अपराधी उसी स्कूल में काम सीखकर आज अपना जीवन सही रास्ते पर चला रहे हैं। हावड़ा जेल में बन्दी कुख्यात दरोगा डकैत, शम्भु यादव या सनू अंसारी भी सम्भव है कि कोई मिस्त्री, रिक्शा चालक या दर्जी होंगे। हावड़ा जेल के सुपरिंटेंडेंट अमल घोष इसी प्रकार आशान्वित हैं।

रामकृष्ण मिशन हावड़ा जेल में क्या करेगा? उत्तर में अमल बाबू ने कहा कि पहले वहाँ कैदियों के लिये एक पुस्कालय बनाया जायेगा, जिसमें विशेष रूप से हितोपदेश आदि नैतिक-शिक्षाप्रद पुस्तकें ही रखी जायेंगी। साथ ही धार्मिक पुस्तकें भी रहेंगी। सारी पुस्तकें रामकृष्ण मिशन देगा। जेल में इस समय ६२५ कैदी हैं। वे सभी इस पुस्तकालय का उपयोग कर सकेंगे। इसके सिवा कैदियों को ध्यान करना भी सिखाया जायेगा। सरल भाषा में प्रार्थना करना भी सिखाया जायेगा। रामकृष्ण मिशन के स्वयंसेवक गण कुछ ही दिनों में कैदियों को दर्जी और बढ़ई मिस्त्री के कार्य का प्रशिक्षण देना शुरू करेंगे। फिर उनकी सजा की अवधि पूरी होने के बाद प्रशिक्षण प्राप्त कैदियों को सिलाई मशीन और बढ़ई-मिस्त्री के औजार आदि भी रामकृष्ण मिशन निःशुल्क वितरित करेगा।

जेल के अधिकारियों ने बताया कि अनेक कैदियों ने स्वेच्छा से प्रशिक्षण पाने का आग्रह किया है। जेल में विभिन्न प्रकार के कैदी हैं, उनमें सजाप्राप्त कैदियों को ही स्वावलम्बी होने का मौका दिया जा रहा है। **(आनन्दबाजार पत्रिका, कोलकाता, २७ जून, २००४)**

'विवेक-ज्योति' में वर्ष २००४ ई. के दौरान प्रकाशित लेखकों तथा उनकी रचनाओं की सूची

रामकृष्ण मिशन आश्रम,
छपरा, बिहार-८४१३०१

श्रीरामकृष्ण देव के सोलह संन्यासी शिष्यों में मात्र एक ही हिन्दी-भाषी क्षेत्र के थे और उन्हें जन्म देने का श्रेय छपरा अंचल को प्राप्त हुआ था। लाटू महाराज के नाम से परिचित स्वामी अद्‌भुतानन्द के माता-पिता समाज के अत्यत पिछड़े वर्ग के थे। शैशवावस्था में ही माता-पिता के देहान्त हो जाने के कारण उन्हें बाल-श्रमिक के रूप में अपने चाचा के साथ कलकत्ते जाना पड़ा।

दैवी कृपा से किशोर लाटू अभूतपूर्व आध्यात्मिक साधना के शिखर-पुरुष, सर्वधर्म-समन्वय की प्रतिमूर्ति युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आए। इन दोनों का मिलन भारत ही नहीं, विश्व के आध्यात्मिक जगत् के लिए एक स्वर्णिम संगम था। यह केवल एक परम गुरु से एक निष्ठावान शिष्य का मिलन नहीं, वरन् मानो भावी भारत की जाति-भेद विहीन सामाजिक संरचना का अद्‌भुत संकेत था। श्रीरामकृष्ण के निर्देशन में गहन आध्यात्मिक साधना करके इस निपट ग्रामीण, निरक्षर युवक ने समाधि के उच्चतम सोपान पर ब्रह्मोपलब्धि कर आध्यात्मिक जगत में एक अद्वितीय, अद्‌भुत उदाहरण प्रस्तुत किया। लाटू महाराज की इस अनोखी उपलब्धि को देखकर स्वामी विवेकानन्द ने ही उनका नाम स्वामी अद्‌भुतानन्द रखा।

बिहार की मिट्टी धन्य है जिससे भगवान बुद्ध, महावीर जैन, राजा जनक, सीता माई आदि के नाम जुड़े हैं। यह भूमि एक बार फिर से लाटू महाराज सरीखे सन्त को जन्म देकर धन्य हो गई है। आज स्वामी अद्‌भुतानन्द के जीवन विभिन्न देशी-विदेशी भाषाओं में अनेक ग्रन्थों व लेखों का प्रकाशन हो रहा है। इससे आध्यात्मिक जगत् में छपरा जिले को एक विशिष्ट गरिमा प्राप्त हुई है।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ ने रामनवमी २००३ को छपरा में एक केन्द्र आरम्भ किया। आशा की जाती है कि रामकृष्ण मिशन आश्रम, छपरा अपने पूर्ण सामर्थ्य से लाटू महाराज की स्मृति अक्षुण्ण रखने के साथ साथ समाज-कल्याण कार्यक्रमों में स्वयं को समर्पित कर देगा।

हमारे कार्यक्रमों को सुचारु रूप से चलाने के लिए हमें धन-बल एवं जन-बल की आवश्यकता है, जिसका अभी नितान्त अभाव है। आपसे विनम्र निवेदन है कि आप हमारे कार्य में सहायता प्रदान करने सहानुभूतिपूर्वक आगे आएँ। इस आश्रम को दिये गये दान आयकर की धारा ८० (जी) के अन्तर्गत आयकर से मुक्त हैं। चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन आश्रम, छपरा, बिहार' के नाम से ऊपर दिए गए पते पर भेजें।

हमारी तात्कालिक आवश्यकताएँ —

१. सन्त-निवास हेतु .... १० लाख रुपये
२. निर्धन छात्रों को पढ़ाने के लिए एक शेड .... ३ लाख रुपये
३. चिकित्सालय हेतु दवाएँ तथा उपकरणों के लिए .... १० लाख रुपये
४. अतिथि-निवास के लिए .... ३ लाख रुपये

भवदीय

स्वामी मुनीश्वरानन्द

सचिव